जैन भारती

वर्ष 52 • अंक 11 • नवंबर, 2004

With Best Compliments From :

GIRIAS

The Consumer Durable People

The Undisputed No. 1 in Karnataka for Television and Home Appliances

Gandhinagar ☆ **Brigade Road**

Ph : 2264551 Ph : 2228032
2204189 2270126
Fax : 2262123 Fax : 2235555

BANGALORE
4 world class Showrooms

Sadashivnagar ☆ **Jayanagar**

Ph : 3619195 Ph : 6566140
3619196 6566141
Fax : 3611448 Fax : 6566142

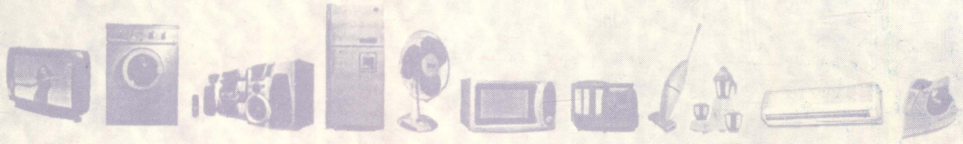

Dr. Nanjappa Road

Ph : 233059
Fax : 231675

COIMBATORE
2 world class Showrooms

Cross Cut Road

Ph : 236486
Fax : 236487

MANGALORE

NALPAD APSARA CHAMBERS

K. S. Rao Road, Hampan Katta
Tel. : 2442220, 2442880

TIGER BRAND
388292

KARNATAKA FILATEX

(Mfrs. of H.D.P.E Woven Fabric)
Magadi Chord Road, BANGALORE 560079
Ph. 23353714

GIRIAS UTTARANCHAL TEA

UTTARANCHAL TEA CO. PVT. LTD.

Pingalkot, Post. Kausani
Dist. Bageshwar, Uttaranchal
Ph. : 059 62 45330 / 331 Fax : 45314

PHILIPS ONIDA Whirlpool VIDEOCON Electrolux Kelvinator SHARP IFB LG SAMSUNG ELECTRONICS BPL SONY

Godrej THOMSON SANSUI USHA LEXUS FORBES CLEN APPLIANCES BRAUN MAHARAJA Mailash ULTRA GRIND

शुभू पटवा
मानद संपादक
•
बच्छराज दूगड़
मानद सह-संपादक

जैन भारती

वर्ष 52 • नवंबर, 2004 • अंक 11

विमर्श

9
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
जीवन का पहला अध्याय

14
डॉ. संतोष आचार्य
पुनर्जन्म : भारतीय दृष्टि

19
डॉ. राधाकृष्णन
भारतीय विचारधारा की सामान्य विशेषताएं

•

आवरण
अडिग

अनुभूति

27
समणी हिमप्रज्ञा
आचार्य तुलसी की क्रांति

30
साध्वी निर्मलयशा
आत्म-ज्ञान की अलख जगे

32
मुनि कुमुदकुमार
उट्ठिए णो पमायए—अनुशासन पुरुष का आर्ष सूत्र

34
कहानी
वीरेंद्रकुमार जैन
प्रभु का रूप भी अक्षय नहीं

38
कविता
विजयदेवनारायण साही की कविता

प्रसंग

5
शुभू पटवा
अहिंसा-ज्ञानयज्ञ

शीलन

43
साध्वी विमलप्रज्ञा
अपराध निरोध : सजा से कि शोधन से

47
साध्वी कान्तयशा
कषायमुक्ति किल मुक्तिरेव

50
बालकथा
द्रोणवीर कोहली
पिंजरा

संपादकीय पता : संपादक, जैन भारती, भीनासर 334403, बीकानेर • फोन : 2270305, 2202505
प्रकाशकीय कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401
प्रधान कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001
सदस्यता शुल्क : वार्षिक 200/- रुपये • त्रैवार्षिक 500/- रुपये • दसवर्षीय 1500/- रुपये

इसमें शंका की क्या बात?

तेरापंथ-दीक्षा से पूर्व स्वामीजी अपने गुरुजी के साथ गोचरी के लिए गए। एक भाई चरखा कात रहा था, उसके हाथ से आहार का दान लिया।

तब गुरुजी बोले—'भीखणजी! क्या शंका हुई?'

तब स्वामीजी बोले—'साक्षात् अकल्पनीय आहार का दान लिया, उसमें फिर शंका की क्या बात?'

तब गुरुजी बोले—'भीखणजी! दृष्टि गहरी रखनी चाहिए। पहले तुम्हारे जैसा एक नया शिष्य गुरु के साथ गोचरी गया था। अकल्पनीय आहार लेते समय उसने गुरु को वरजा था। तब गुरु ने वह आहार नहीं लिया। फिर किसी समय जंगल में विहार करते समय उसे बहुत प्यास लगी। गुरु ने कहा—'साधु का मार्ग है, दृढ़ता रखो। पर शिष्य प्यास से छटपटा रहा था। उसने सजीव जल पी लिया। उसे बड़ा प्रायश्चित्त प्राप्त हुआ। अन्यथा थोड़े प्रायश्चित्त में ही उसका काम निपट जाता।'

तब स्वामीजी ने सोचा—'इनकी दृष्टि ही ऐसी है।'

साहूकार—दिवालिया

कुछ साधु कहते हैं—'अभी पांचवां अर है, पूरा साधुपन नहीं पाला जा सकता।

तब स्वामीजी बोले—'ऋण पत्र साहूकार और दिवालिया दोनों के लिए लिखा जाता है—जब ऋण-दाता मांगेगा तब तुरंत रुपये लौटा देंगे। उसमें कोई आपत्ति नहीं करेंगे। चमकते हुए खरे रुपये लेंगे।'

'पर साहूकार और दिवालिया का पता तो वापस मांगने पर ही चलता है। साहूकार ब्याज-सहित लौटा देता है और दिवालिया मूल से भी मुकर जाता है।

'इसी प्रकार भगवान ने सूत्र का निरूपण किया, उसके अनुसार जो चलता है वह साधु और पांचवें अर का नाम लेकर जो उसके अनुसार नहीं चलता वह असाधु है।' •

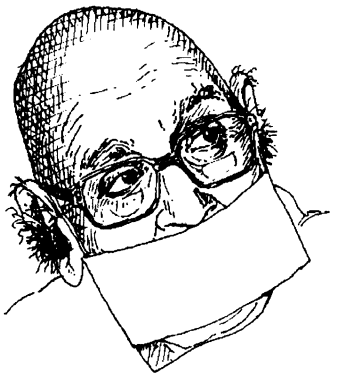

दरिद्रता समाज के लिए अभिशाप है। इस अभिशाप से मुक्त हुए बिना कोई भी समाज आगे नहीं बढ़ सकता, इस तथ्य को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता। फिर भी अपरिग्रह का अपना मूल्य है और वह स्वस्थ समाज-निर्माण का प्रमुख अंग है।

अपरिग्रह का मूल्य न तो गरीबी की स्थिति में है और न लड़खड़ाती अर्थ-व्यवस्था पर आधारित है। वस्तु-उत्पादन और भौतिक संपदा के साथ उसका कोई विरोध भी नहीं है। पदार्थ और पदार्थ-प्रयोग—इन दोनों के होते हुए भी मन में लगाव या आसक्ति न हो, यह अपरिग्रह की आधार-भित्ति है। इसका निर्माण करने के लिए अंतर्जगत में बहुत लंबी यात्रा करनी होती है। वह यात्रा अध्यात्म का अनुसंधान है और विवेक का संधान है। सामाजिक व्यक्ति के लिए अपरिग्रह के चरम शिखर तक पहुंचना कठिन है, इस दृष्टि से भगवान महावीर ने समाज के लिए परिग्रह के अल्पीकरण का सिद्धांत दिया।

—आचार्यश्री तुलसी

प्रेक्षाध्यान साधना पद्धति का एक महत्त्वपूर्ण अंग है—प्रतिक्रिया विरति। सामान्यतया हर क्रिया की प्रतिक्रिया होती है। एक प्रतिक्रिया सत् अथवा प्रशस्त होती है। एक प्रतिक्रिया असत् अथवा अप्रशस्त होती है। गुरु ने ज्ञान दिया और शिष्य ने कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए गुरु के निर्देशानुसार चलने का संकल्प किया। यह सत् प्रतिक्रिया है। इसका निषेध नहीं है। व्यक्ति कभी-कभी द्वेषवश गांठ बांध लेता है, यह असत् प्रतिक्रिया है। इससे व्यक्ति को यथाशक्य बचने का प्रयास करना चाहिए।

प्रेक्षाध्यान साधना पद्धति का ही एक और महत्त्वपूर्ण अंग है—भावक्रिया। व्यक्ति ध्यान का प्रयोग एक सीमित समय तक करता है, लेकिन भावक्रिया एक ऐसा प्रयोग है जिसके सधने पर व्यक्ति हर प्रकार की क्रिया करते हुए भी ध्यान कर सकता है। इससे मन की चंचलता अपने आप कम होने लग जाती है। फलतः व्यक्ति जो भी कार्य करता है—तन्मय, तदुपयुक्त होकर करता है।

—युवाचार्यश्री महाश्रमण

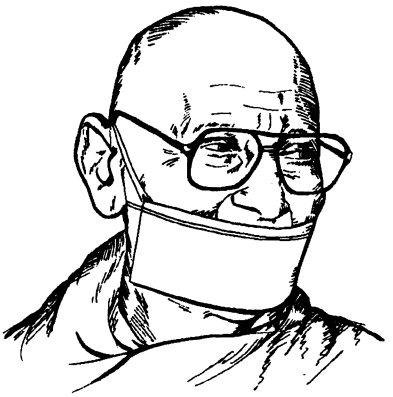

मनोविज्ञान चेतन मन और अवचेतन मन का प्रतिपादन करता है। चेतन मन में जितनी शक्ति है, उससे अनंतगुनी शक्ति है अवचेतन मन में। चेतन मन चालाक है, अवचेतन मन भोला है, पर है अनंतशक्ति का भंडार। यह काम करना है, यह नहीं करना है—चेतन मन आपकी बात सुन लेगा, परंतु करेगा वही जो पहले जंचा हुआ है। अवचेतन मन ऐसा नहीं है। अवचेतन मन को आप जो कहेंगे और यदि उसने उस बात को पकड़ लिया तो वही करेगा जो आपने कहा है। जैसे चेतन मन और अवचेतन मन का अंतर है वैसे ही स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर की शक्ति में अंतर है। स्थूल शरीर की शक्ति एक पैसा है तो सूक्ष्म शरीर की शक्ति निन्यानवे पैसे हैं। कितना बड़ा अंतर है! सूक्ष्म शरीर को जाग्रत करने का अर्थ है—विद्युत भंडार का निर्माण करना। किंतु हमें चलना होगा इसी स्थूल शरीर से। यह हमारी शक्तियों को प्रकट करने का पहला साधन है। साधना की दृष्टि से इस शरीर का मूल्य है। बहुत सारी दृष्टियों से हमने इसका बहिष्कार किया, क्योंकि यह हमें वासना की ओर प्रेरित करता है। इसीलिए कई बार जीभ को, आंख को हजारों गालियां दी गई, बुरा-भला कहा गया। कुछ साधकों ने कहा आंख को फोड़ देना ही बहुत बड़ी साधना है, क्योंकि यही विकृति का सशक्त माध्यम है। आंखों को फोड़े बिना साधना नहीं हो सकती। वे सचमुच आंख को फोड़ देते हैं, सदा-सदा के लिए अंधे हो जाते हैं।

हमारा काम इस स्थूल शरीर से है। साधना का मतलब है कि हम इस स्थूल शरीर की शक्तियों को जागृत करें, और साथ ही साथ सूक्ष्म शरीरों की शक्तियों को भी सक्रिय करें। स्थूल शरीर से लाभ उठाएं।

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

प्रसंग

अहिंसा-ज्ञानयज्ञ

अहिंसा यदि जीवन का सिद्धांत बन जाए और किसी भी सूरत में इस सिद्धांत से विरत न हुआ जाए तो यह केवल आदर्श स्थिति ही नहीं, व्यवहारतः भी उपयुक्त अवस्था मानी जाएगी। ऐसा संभव है—यह विमर्श हमने इसी प्रसंग में अलग-अलग दृष्टिकोणों से किया है और हमारी यह आशा बलवति हुई है कि अहिंसक समाज-संरचना कोई दिवास्वप्न नहीं है, इसे वास्तविक आकार दिया जा सकता है। पर, यह आकार स्थाई कैसे बने? क्योंकि हमने देखा है कि इसी भारत-भूमि पर अहिंसा की बात जितनी तीव्रता से हुई, वह अन्यत्र देखने-सुनने को नहीं मिलती, जबकि आज यहां हिंसा का दावानल दहक रहा है। यह हिंसा केवल किसी के वध तक ही सीमित नहीं है। हिंसा के अनेक रूपों-स्वरूपों पर हमने चर्चा की है और पाते हैं कि हिंसा के अन्य रूप किसी वध से भी अधिक घातक और दुसह्य हैं।

किसी का अनुकरण करना अहिंसक होना नहीं है। अहिंसक की अपनी स्वतंत्र अस्मिता होती है और ठीक उसी तरह वह दूसरों की अस्मिता के प्रति भी सदा सजग-संवेदनशील रहता है। यह अवस्था तभी संभव है जब हमारा हर कदम, हर कर्म सुचिंतित हो, सुचालित हो। ऐसा तभी संभव है जब हमारा विवेक, हमारी प्रज्ञा पूर्ण जाग्रत हो, विनम्रता का समावेश हो और सहजीविता में आस्था हो। भगवद् गीता में उल्लेख आता है कि इस संसार में ज्ञान जैसी पवित्र अर्थात शुद्ध करने वाली दूसरी कोई वस्तु नहीं है। हमें मानना चाहिए कि अहिंसा के जिस अटल रूप की हम अपेक्षा करते हैं उसके लिए ज्ञानयज्ञ में आहुति देना जरूरी है, गरज की अहिंसा को भी पवित्र यानी उपादेय बनाने में ज्ञान ही सहायक हो सकता है।

श्रीमद्भगवद्गीता में ज्ञानयज्ञ की महत्ता बहुत स्पष्ट है। कहा तो यहां तक गया है कि द्रव्ययज्ञ की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ अधिक अच्छा है और परोपकार की वृत्ति से दिया हुआ द्रव्य भी यदि ज्ञानपूर्वक न दिया गया हो, तो बहुत बार हानिकारक सिद्ध होता है और शुभ वृत्ति से किए हुए सभी कर्म तभी शोभा पाते हैं जब उनके साथ ज्ञान का मिलन हो। अहिंसा के स्तर पर भी यही बात कही जा सकती है कि ज्ञानपूर्वक अहिंसक आचरण ही फलदाई होता है।

ज्ञान और आचरण के प्रसंग पर आचार्यश्री महाप्रज्ञजी कहते हैं कि—जहां ज्ञान और आचरण बंट जाता है, विभक्त हो जाता है तो वह ज्ञान सम्यक नहीं होता और आचरण भी सम्यक नहीं होता। वे कहते हैं—जहां ज्ञान सत्य हो गया, यथार्थ हो गया—वहां ज्ञान और आचरण के बीच दूरी मिट गई। तब ये दोनों साथ-साथ चलेंगे। यह एक त्रिपदी या रत्नत्रयी है। सम्यक ज्ञान, सम्यक दर्शन और सम्यक चारित्र—ये तीन रत्न हैं। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी

का मानना है कि—दर्शन यदि सम्यक है, ज्ञान अगर सम्यक है तो आचरण भी सम्यक ही होगा। यह रत्नत्रयी अहिंसक समाज-संरचना में सहायक हो सकती है। जाहिर है कि 'भेड़-चाल' की तर्ज पर अनुसरण से अहिंसक समाज-संरचना परिपुष्ट नहीं होगी। हमें यदि अहिंसक होना है तो ज्ञानपूर्ण दृष्टि का विकास करना होगा।

यह ज्ञानदृष्टि या ज्ञानयज्ञ है क्या? इसे समझना जरूरी है।

कहा जाता है—'यथा पिंडे तथा ब्रह्मांडे'—इस उक्ति की विवेचना कई तरह से होती रही है। महात्मा गांधी कहते हैं—यथा पिंडे तथा ब्रह्मांडे का यही अर्थ है कि जिसे आत्म-दर्शन हो गया, वह अपनी आत्मा और दूसरे की आत्मा के मध्य कोई भेद नहीं करता। श्रीमद्भगवद् गीता के संदर्भ से ही गांधीजी ज्ञान प्राप्ति के लिए तीन शर्तें निर्धारित करते हैं—प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवा। प्रणिपात से तात्पर्य है—नम्रता, विवेक; परिप्रश्न का अर्थ है—बार-बार पूछना; इसी प्रकार गांधीजी सेवा के प्रसंग में स्पष्ट करते हैं कि सेवारहित नम्रता खुशामद समझी जा सकती है। तात्पर्य यह कि सेवा और नम्रता को साथ-साथ चलना होगा, इनका रिश्ता अन्योन्याश्रित है। गांधीजी ही नहीं, हर एक विचारशील व्यक्ति की यही मान्यता होगी कि शोध और जांच-पड़ताल के बिना ज्ञान की प्राप्ति संभव नहीं है। गांधीजी कहते हैं—यह जिज्ञासा का लक्षण है। इसमें श्रद्धा की आवश्यकता होती है। यदि श्रद्धा नहीं है तो नम्रता नहीं हो सकती और फिर सेवा तो हो ही कैसे सकती है? स्पष्ट है कि ज्ञानयज्ञ के कुंभ में समाहित होने के लिए प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवा का संकल्प व स्वभाव जरूरी है।

ज्ञानयज्ञ से प्रसूत दृष्टि द्वंद्वमुक्त होती है। किसी व्यक्ति को बंधनरहित तभी तो माना जा सकता है जब वह द्वंद्वमुक्त हो, आसक्ति से रहित हो और जिसका चित्त केवल ज्ञान में स्थिर हो। ऐसे व्यक्ति का हर कर्म ज्ञानपूर्वक होगा और इसीलिए यह माना जा सकता है कि ज्ञानपूर्ण दृष्टि के विकास से ही अहिंसक समाज-संरचना का सपना साकार हो सकता है।

यहां फिर सवाल आएगा कि विज्ञान और प्रौद्योगिकी ने जिन शिखरों को छू लिया है—इसे क्या ज्ञान का विकास न माना जाए? हमारे सामने अब एक कसौटी है—प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवा। इन तीन शर्तों पर हमारा आधुनिक विकास, हमारा विज्ञान और प्रौद्योगिकी, हमारी वर्तमान सामाजिक संरचना आदि, यदि खरे उतरते हैं तो निश्चय ही इनको ज्ञान की श्रेणी में रख सकते हैं। लेकिन हम पाते हैं कि ये सभी इस स्तर पर खरे नहीं उतर रहे। अतः यह बात विचारणीय है कि विज्ञान और प्रौद्योगिकी सहित विकास के वर्तमान ढांचे को इस दृष्टि से देखा-परखा जाए कि जिससे अहिंसक समाज निर्माण में यह ज्ञान(?) योगभूत हो सके।

हमारे समाज और शासन-व्यवस्था के वर्तमान ढांचे के चलते यह सब संभव हो पाएगा—कहना कठिन है। जो व्यवस्था अपने ही बोझ से चरमरा रही हो, जिसे खड़ा रखने के लिए एक के बाद एक अधर्मी उपाय होते हों, वह किसी दिन भुरभुरा कर ढहेगी अवश्य, पर विवेकसंपन्न लोग क्या उस दिन का इंतजार करते बैठे रहें? यह निरी दुरवस्था होगी। सौभाग्यवश भारत में अभी ऐसे जन हैं जो हाथ पर हाथ धरे बैठे नहीं रहने वाले। उनके सम्मुख लक्ष्य भी स्पष्ट है और दिशा भी। जो दशा वर्तमान में भुगती जा रही है, भुगतते हुए भी केवल इसका रोना लेकर वे बैठे रहने वाले नहीं हैं। यही कारण है कि समस्त विषमता और विकरालता के चलते हुए भी रोशनी की किरण नजर आ रही है। यही किरण दिशा-बोधक बनेगी—ऐसी अभीप्सा की जानी चाहिए।

इस बार दीपोत्सव से निकलने वाली रश्मियां बाहर के उजाले तक ही नहीं, हमारे अंतःकरण को भी प्रकाशमान करे कि हम प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवा की कसौटी पर अपनी ज्ञान-दृष्टि को चढ़ा सकें, खरे उतर सकें। इस बार दीपावली पर यही कामना हमें जन-जन के लिए करनी चाहिए।

—शुभू पटवा

विमर्श

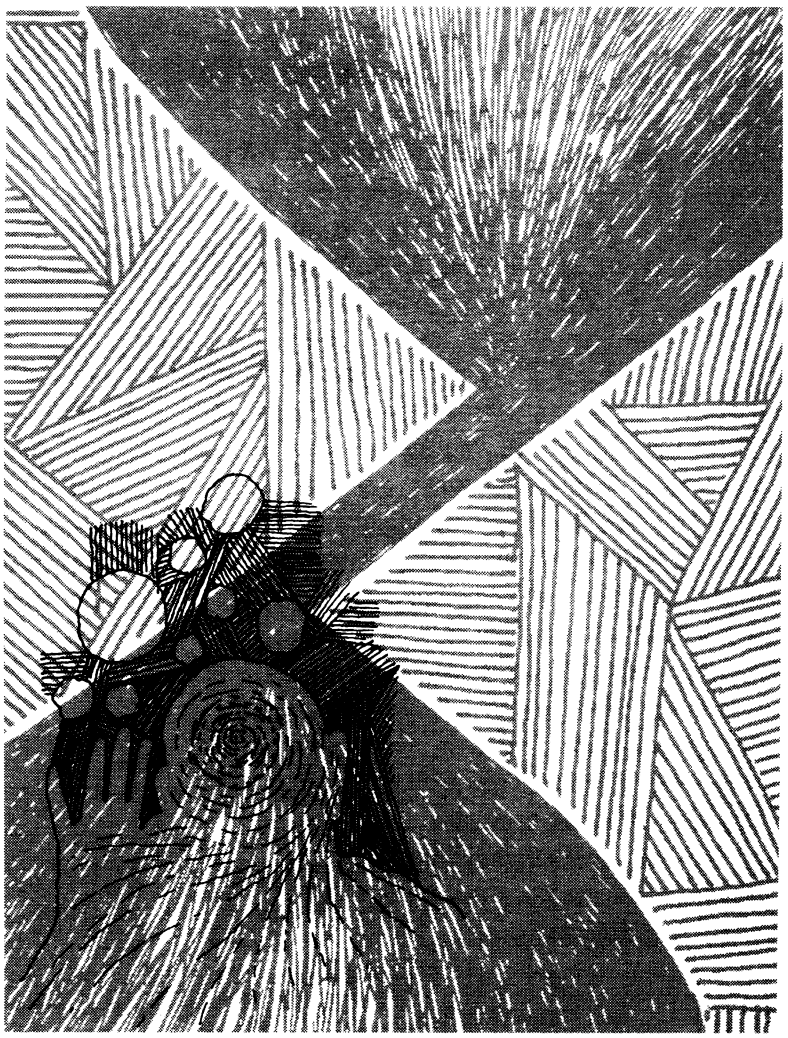

ईश्वर प्रत्यक्ष का विषय नहीं है अतः उसका ज्ञान अनुमान और शब्द-प्रमाण से ही हो सकता है। जब तक सर्वसम्मत आप्तपुरुष निश्चित न हो जाए तब तक शब्द-प्रमाण से काम नहीं लिया जा सकता। विभिन्न संप्रदायों में जो लोग आप्त माने गए हैं उनका ईश्वर के संबंध में ऐकमत्य नहीं है। जो लोग ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते उनमें कपिल, जैमिनि, बुद्ध और महावीर जैसे प्रतिष्ठित आचार्य हैं। अतः हमको शब्द-प्रमाण का सहारा छोड़ना होगा। अब केवल अनुमान रह गया। इसमें यह हेतु बतलाया जाता है कि प्रत्येक वस्तु का कोई-न-कोई रचयिता होता है इसलिए जगत का भी कोई रचयिता होना चाहिए। इस अनुमान में कई दोष हैं। हम यदि यह मान लें कि प्रत्येक वस्तु का कर्ता होता है तो फिर वस्तु होने से ईश्वर का भी कर्ता होगा और उसका कोई दूसरा कर्ता, दूसरे का तीसरा। यह परंपरा कहीं समाप्त न होगी। ऐसे तर्क में अनवस्था-दोष होता है। इससे ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। यदि ऐसा माना जाए कि ईश्वर को कर्ता की अपेक्षा नहीं है तो फिर ऐसा मानने में क्या आपत्ति है कि विश्व को कर्ता की अपेक्षा नहीं है? फिर, ऐसा मानना कि प्रत्येक वस्तु कर्तृक होती है साध्यसम है। सूर्य-चंद्रमा कर्तृक हैं इसका क्या प्रमाण है? समुद्र और पहाड़ को बनाए जाते किसने देखा है? जब-तक यह सिद्ध न हो जाए कि प्रत्येक वस्तु का कर्ता होता है तब तक जगत का कोई कर्ता है ऐसा सिद्ध नहीं होता।

—संपूर्णानंद

बचपन की अनुभूति अव्यक्त अवस्था की अनुभूति है। इस अवस्था में पहुंचना बहुत आवश्यक है। जब तक सारा व्यक्त ही रहेगा, तब तक ध्यान संभव नहीं है। ध्यान करने वाला भी साधक है, सिद्ध नहीं है। उसमें अहंकार, लोभ, कपट, घृणा, ईर्ष्या, कामवासना है। इनका एक साथ उन्मूलन नहीं हो सकता। ध्यान का प्रयोजन है—इनको अव्यक्त अवस्था में ले जाना। जो व्यक्त हैं, उन्हें अव्यक्त अवस्था में पहुंचाना। जब ये दोष अव्यक्त अवस्था में जाएंगे तब धीरे-धीरे इनका उपशमन होता जाएगा। ये सारे दोष निर्वीर्य और निष्क्रिय होते जाएंगे। जब इन दोषों को व्यक्त होने का मौका मिलेगा तब ये बार-बार प्रकट होते जाएंगे। इसलिए आवश्यक है कि इन दोषों को व्यक्त होने का अवसर न दिया जाए, उन्हें अव्यक्त बनाए रखें।

जीवन का पहला अध्याय

❑ *आचार्यश्री महाप्रज्ञ* ❑

एक शिकायत लेकर अंधकार इंद्र के पास पहुंचा। उसने कहा—'सूर्य सदा मेरा पीछा करता रहता है। मैं जहां जाता हूं, पीछे-पीछे आता है और मुझे कष्ट पहुंचाता है। आप न्याय करें और सूर्य को ऐसा करने से रोकें।' इंद्र ने सूर्य को बुलाकर पूछा। सूर्य बोला—'कैसा अंधकार! मैंने उसे कभी देखा ही नहीं। मैं उसे पहचानता भी नहीं। फिर भला सताने की बात ही क्या है?'

दोनों ही बातों में सचाई है। अंधकार की शिकायत में भी सचाई है और सूर्य के कथन में भी सचाई है। सूर्य सदा अंधकार का नाश करता है, यह भी सच है और उसने कभी अंधकार को देखा नहीं, यह भी सच है। दोनों सचाइयों को सापेक्ष दृष्टि से देखना होगा। निरपेक्ष दृष्टि से सचाई का पता नहीं चल सकता।

'बाल-दिवस' (14 नवंबर—पं. जवाहरलाल नेहरू का जन्म दिन) हमारा देश पिछले कई वर्षों से बड़े उत्साह के साथ मनाता रहा है। बच्चों के लिए अनेक आयोजन इस अवसर पर होते हैं और कई संकल्प भी दोहराए जाते हैं, पर बाल-मन की गहराइयों में उतर कर बड़े जन अपने समय और काल, अपने जीवन और दैनंदिन, अपने स्वभाव और परिस्थितियों की विवेचना नहीं कर पाते हैं। 'बाल-दिवस' पर बच्चों के लिए तो सोचा ही जाए, पर क्या बड़ों को अपने बारे में नहीं सोचना चाहिए? यदि बड़े अपने बारे में कुछ चिंतन करें, अपनी विवेचना करें, तो यह बच्चों के लिए भी हितकारी होगा और बड़ों के लिए भी। अवसर-विशेष पर आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का ऐसा ही एक चिंतन-परक आलेख जैन भारती के पाठकों के लिए—

जीवन के विषय में भी हमारा दृष्टिकोण सापेक्ष होना चाहिए। जीवन में अंधकार भी है, प्रकाश भी है। सूर्य भी उग रहा है और अंधकार भी है—दोनों सापेक्ष हैं।

जीवन का पहला अध्याय है—बचपन। अनेक लोग कहते हैं कि बचपन निश्छल, सरल और स्पष्ट होता है। उसमें कोई बुराई नहीं होती। यह एकांगी कथन है। बच्चा स्पष्ट और पवित्र है और वह सामाजिक संदर्भ में धीरे-धीरे सब-कुछ सीखता है—यह भी एकांगी बात है, पूर्ण सही नहीं है।

बच्चा जन्म से ही बहुत-कुछ लेकर आता है। उसमें अच्छाइयां भी हैं और बुराइयां भी हैं। वह आनुवंशिकता के सूत्र से बंधा हुआ होता है। 'क्रोमोसोम' और जीन—गुण-सूत्र और संस्कार-सूत्र वह लेकर आता है। उसमें अनेक संस्कार हैं। इससे भी आगे चलें तो उसमें कर्म के संस्कार विद्यमान हैं। उसके पास इन कर्म-संस्कारों का असीम खजाना है। इसलिए यह नहीं माना जा सकता

कि एक बच्चा बिलकुल रिक्त है, कोरी पाटी के समान है। यह सापेक्ष सत्य है, पूर्ण सत्य नहीं है। निमित्त काम करते हैं, सामाजिक वातावरण भी काम करता है। सामाजिक वातावरण के संदर्भ में बच्चा एक आकार लेता है—यह भी एकांगी कथन है। कोरा सामाजिक वातावरण ही उसे प्रभावित नहीं कर पाता। उसमें जो है, जो संस्कार-बीज वह साथ में लेकर आया है, वे भी उसके व्यक्तित्व का घटक बनते हैं, उसे प्रभावित करते हैं। वे संस्कार-बीज प्रकट होते हैं। सामाजिक संदर्भ उसमें निमित्त बनता है।

स्कूल में सैकड़ों बच्चे पढ़ते हैं। क्या उनमें एकता और समता है? उनमें आचरण की तरतमता है, व्यवहार और ज्ञान की तरतमता है। यह तरतमता क्यों है? यदि सामाजिक वातावरण ही कारण होता तो सब-के-सब बच्चे समान होते। एक बच्चा दस वर्ष की अवस्था में महान कवि बन जाता है। एक बच्चा उसी अवस्था में महान दार्शनिक या संत बन जाता है। वातावरण और सामाजिक संदर्भ समान होते हुए भी इतना अंतर आ जाता है। इससे स्पष्ट है कि सामाजिक संदर्भ या वातावरण ही सब-कुछ नहीं है। बच्चा पूर्वसंस्कार-बीज लेकर आता है। उसमें क्षमताएं हैं। वे क्षमताएं सामाजिक संदर्भ में प्रकट होती हैं और कभी-कभी ये विशेषताएं अतिरिक्त रूप में प्रकट हो जाती हैं। सबमें ऐसा नहीं होता। अतिरिक्त रूप में ऐसा हो सकता है।

राजप्रश्नीय आगम में एक प्रसंग है। राजा प्रदेशी ने कहा—क्या बलवान, शक्तिशाली और कला-कुशल तरुण बाण फेंक सकता है? केशी स्वामी ने कहा—हां, वह बाण फेंक सकता है। प्रदेशी ने फिर पूछा—तो क्या बच्चा बाण फेंक सकता है? केशी ने कहा—बच्चा बाण नहीं फेंक सकता। प्रदेशी ने कहा—तो फिर आत्मा समान कहां है? यदि आत्मा समान होती तो जैसे एक युवक धनुष्य से बाण फेंकता है, वैसे ही एक बच्चा भी बाण क्यों नहीं फेंक सकता? केशी बोले—प्रदेशी! युवा बाण फेंक सकता है, पर यदि धनुष्य की जिह्वा टूटी हुई हो, तो क्या बाण फेंका जा सकेगा? प्रदेशी बोला—नहीं! केशी ने पूछा—क्यों? प्रदेशी बोला—उपकरण पर्याप्त नहीं हैं। धनुष्य टूटा हुआ है, उपकरण अपर्याप्त हैं। जब तक सारे उपकरण ठीक नहीं होते, तब तक कार्य संपन्न नहीं हो सकता। केशी ने कहा—राजन्! तुम ठीक कहते हो। एक बच्चा नहीं फेंक सकता, क्योंकि उसके उपकरण पर्याप्त नहीं हैं।

उपकरण हमारी एक शक्ति है। वह कार्य करने में निमित्त बनती है, सहयोग देती है। आंखें देखती हैं। वे देखने में निमित्त बनती हैं। देखने की मूल शक्ति आंख नहीं है। वह तो एक माध्यम है। उसमें केवल प्रतिबिंब आता है। देखने की शक्ति उस 'नर्व' में है, जिसे हम उपकरण कहते हैं। कान का आकार नहीं सुनता। उसमें जो उपकरण है, उसमें सुनने की शक्ति है।

प्रत्येक प्रवृत्ति का उपकरण होता है। जब तक बच्चा पांच-दस वर्ष का होता है, तब तक यह पता नहीं चलता कि यह भविष्य में महान कवि होगा, दार्शनिक संत होगा—क्योंकि उसके उपकरण अभी अपर्याप्त हैं। जो शक्तियां व्यक्ति को महान कवि, दार्शनिक या संत बनाती हैं, वे बच्चे में अभी अभिव्यक्त नहीं हैं। उपकरण अभी पूर्ण विकसित नहीं हैं। बच्चे में भी सारी शक्तियां विद्यमान हैं, पर जब तक उसके शारीरिक अवयव, मस्तिष्क के अवयव पूर्ण विकसित नहीं होते, तब तक वह बच्चा पूरा काम नहीं कर सकता। जब उन घटकों का पूर्ण विकास हो जाता है, तब वह बच्चा कार्य को पूरा करने में सक्षम हो जाता है। इसलिए हम यह एकांततः नहीं मान सकते कि बच्चा कोरी पाटी जैसा है, पूर्ण स्पष्ट और पवित्र है, उसमें अच्छाइयां या बुराइयां नहीं हैं।

अच्छा वातावरण उपलब्ध करा देने पर भी कुछ बच्चे ऐसे हैं, जो कभी अच्छे नहीं बनते और कितना ही खराब वातावरण दे देने पर भी कुछ बच्चे बुरे नहीं बनते। इसका मूल कारण है उनकी अपनी विशेषता, अपने संस्कार-बीज। उपादान और निमित्त—दोनों साथ-साथ काम करते हैं। स्वयं की विशेषता है—उपादान, और सामाजिक वातावरण है—निमित्त। दोनों का योग होने पर कार्य निष्पन्न होता है।

एक आदमी सौ वर्ष की आयु जीता है। उसके जीवन को दस भागों में बांटा गया। दस-दस वर्ष का एक-एक भाग होगा। ये दस अवस्थाएं हैं—

1. बाला, 2. क्रीड़ा, 3. मंदा, 4. बला, 5. प्रज्ञा, 6. हायनी, 7. प्रपंचा, 8. प्राग्धारा, 9. मृन्मुखी, 10. शायनी। पहली पांच अवस्थाएं जीवन के पूर्वार्द्ध की हैं और शेष अवस्थाएं जीवन के उत्तरार्द्ध की हैं। दस अवस्थाओं में बंधा हुआ सौ वर्षों का जीवन है।

पहली अवस्था है बाला। यह बचपन की अवस्था है। इसका काल-मान दस वर्ष का है। इस अवस्था में जो

स्थितियां बनती हैं—प्राचीन आचार्यों ने उनका सुंदर विश्लेषण किया है। वे कहते हैं—'न तत्थ सुखदुक्खाणं बहुं जाणंति बाला—बालक में सुख-दुख का अनुभव करने की क्षमता होती है, किंतु बालक न अधिक सुख का संवेदन करता है और न अधिक दुख का संवेदन करता है।' यह सुख-दुख के संवेदन से परे की अवस्था होती है। दो-चार वर्ष का बच्चा एक मिनट में रोने लग जाता है और दूसरे ही क्षण हंसने लग जाता है। चोट लगी, रोने लग जाता है। मिठाई दी, तत्काल हंसने लग जाता है। बड़ा आदमी ऐसा नहीं कर सकता। बच्चे में सुख-दुख का ज्ञान कम होता है। वह बहुत कम वेदन करता है। यह अवस्था निर्माण की अवस्था है, विकास की अवस्था है। सारे बीज इस अवस्था में अंकुरित होने लग जाते हैं।

प्रेक्षाध्यान करने वाले व्यक्ति को प्रेक्षा-निरीक्षण करना सीखना है। उसे अतीत में जाना है, अतीत का अवलोकन करना है। ध्यान का अभ्यास करने वाले प्रतिक्रमण करें, पीछे लौटें। कल सूर्योदय से सूर्यास्त तक पहुंचें। इस अंतराल में क्या-क्या किया था, उसका चिंतन करें। कितने अच्छे विचार आए, कितने बुरे विचार आए, एक-एक घटना, स्थिति और संदर्भ को देखते चले जाएं; चलते चलें। यदि आज आपकी आयु चालीस वर्ष की है तो एक-एक वर्ष की स्मृति करते-करते वहां तक पहुंच जाएं जहां तक स्मृतियां ले जाती हैं। आगे चलें और बचपन की अवस्था तक पहुंच जाएं। वहां देखें, आपने कौन-से संस्कार लिए थे? क्या-क्या पाया था? वहां एक ऐसा अध्याय खुलेगा, जिसको आपने आज तक नहीं पढ़ा था। उसके आलोक में आप अपने-आपको समझ सकेंगे। आप जान सकेंगे कि वर्तमान में जो आदतें हैं—उनका मूल क्या है? कहां है? आपमें अच्छी आदतें भी हैं और बुरी आदतें भी हैं। उन सबकी बुआई इसी अवस्था में हुई है—यह आप जान लेंगे। वहां प्रत्येक आदत का मूल स्रोत खोजा जा सकेगा। यह आदत क्यों बनी? कब बनी? किन परिस्थितियों में बनी? यह पता लग जाएगा। मूल संस्कारों का पता भी लगाया जा सकता है कि आठ वर्ष की अवस्था में किस कर्म का विपाक प्रगट हुआ था और उससे मेरा कौन-सा स्वभाव बना था?

अपने व्यक्तित्व का विश्लेषण करना—यह बहुत बड़ा काम है। जो अपने मूल तक पहुंच जाता है, उसके सामने गांठ को खोलने का सूत्र प्रस्तुत हो जाता है। जब तक यह सूत्र हस्तगत नहीं हो जाता, तब तक आदमी नहीं जान पाता कि अमुक बुराई की बुआई कब-कैसे हुई थी? वहां पहुंचे बिना बुराई के इस पौधे को उखाड़ा नहीं जा सकता।

एक भिखारी था। भीख मांगते-मांगते उसकी आदत इतनी परिपक्व हो गई कि उसे छोड़ पाना संभव नहीं रहा। उसने लॉटरी में रुपये लगाए। मंदिर में जाकर प्रार्थना करने लगा—'भगवन! इस बार मेरी लॉटरी उठे और मुझे लाख रुपये मिल जाएं।' पास में एक दूसरा व्यक्ति खड़ा था। उसने पूछा—'तुम तो भिखारी हो। क्या करोगे लाख रुपयों से?' वह बोला—'एक कार खरीदूंगा। आज तक पैदल घूमकर भीख मांगता था। कार आ जाने पर कार में बैठकर भीख मांगने निकलूंगा।' भीख मांगने की आदत बहुत गहरी थी। कार आ जाने पर भी उससे छुटकारा पाना उसके लिए कठिन था।

संस्कार छूटते हैं—प्रतिक्रमण करने से। प्रतिक्रमण करते-करते बचपन में पहुंचना पड़ेगा, तब संस्कार से छुटकारा संभव हो सकेगा। जब प्राणी गर्भ में आता है, तब बहुत-कुछ लेकर आता है। वहां तक पहुंचने का प्रयत्न होना चाहिए। पर वहां रुकना नहीं है। यदि सामर्थ्य बढ़ जाए तो और आगे बढ़ना है, पूर्वजन्म का ज्ञान करना है, जाती-स्मृति को प्राप्त करना है।

यह है प्रतिक्रमण की प्रक्रिया, अतीत में लौटने की प्रक्रिया। अतीत में चलते चलो, अतीत को देखते जाओ। कब क्या घटित हुआ था? किस क्षण में क्या घटित हुआ था? देखते जाओ। चलचित्र के समान सारा अतीत स्पष्ट हो जाएगा। उस समय आप अतीत को ऐसे पढ़ने लगेंगे जैसे कोई खुली पुस्तक का पन्ना पढ़ रहे हैं।

कर्मवाद और अध्यात्मयोग की दृष्टि से सबसे पढ़ने का जो महत्त्वपूर्ण पाठ है—वह है जीवन का पहला अध्याय—बचपन। उसे पढ़ना अत्यंत आवश्यक है। ध्यान करने वाले को दस वर्ष तक की अवस्था में, बचपन की अवस्था में जाना जरूरी है। इस अवस्था में सहज समता की स्थिति रहती है। मुनि को कहा जाता है कि वह एक छोटे बच्चे की भांति रहे। बच्चे में आग्रह नहीं होता, पकड़ नहीं होती। प्रतिकूल बात होगी तो बच्चा नाराज होकर रो पड़ेगा। किंतु मन में ग्रंथि नहीं रहेगी। तत्काल भूल जाएगा। बच्चा वर्तमान-जीवी होता है। जीवन ऐसा ही होना चाहिए। बड़े आदमी का कोई अपमान कर देता है, तो वह गांठ बांध

लेता है, वर्षों तक उसे नहीं भूलता। कितना अंतर है, एक 9-10 वर्ष के बच्चे में और 50-60 वर्ष के व्यक्ति में! इसीलिए जहां सरलता, निश्छलता, पवित्रता का निदर्शन करना होता है—बच्चे की बात कही जाती है। जहां दोषों के प्रायश्चित्त की बात आती है, वहां दोषी व्यक्ति को प्रेरित किया जाता कि वह छोटे, भोले बालक की तरह अपना दोष स्पष्ट रख दे, छुपाए नहीं।

अध्यात्म-योगी के पास कोई आलोचना करने, दोष-विशुद्धि करने जाएगा तो वह कहेगा—'तुम दुख का भार ढो रहे हो, कष्ट पा रहे हो। यह सारी उस बुरे आचरण की प्रतिक्रिया है, जिस आचरण को तुमने स्वयं किया है। इसलिए तुम शारीरिक और मानसिक क्लेश पा रहे हो। अब तुम अपने मन को खोलकर रख दो और जो-कुछ किया है, उसकी पवित्र मन से आलोचना करो—भोले बालक की तरह। तुम्हारी मानसिक ग्रंथि भी खुल जाएगी और बीमारी भी मिट जाएगी।'

एक बीमार ने डाक्टर के पास सारे 'टेस्ट' और 'चेक-अप' करवा लिए। बीमारी का कोई पता नहीं चला। डाक्टर ने कहा—'तुम्हारे कोई बीमारी नहीं है।' उसने कहा—'मैं अपार दुख भोग रहा हूं और आप कहते हैं कि कोई बीमारी नहीं है, कैसे मानूं?' कारण क्या है? डाक्टरों के पास इसका कोई उत्तर नहीं है। चिकित्सा के आधुनिकतम उपकरण जिस बीमारी को पकड़ने में समर्थ हैं, वह बीमारी इस व्यक्ति के नहीं है। यह व्यक्ति जिस बीमारी से ग्रस्त है, वह बीमारी इन उपकरणों से नहीं पकड़ी जा सकती। यह वृत्तियों की बीमारी है। यह भावनात्मक बीमारी है। इस बीमारी से छुटकारा तब तक नहीं मिल सकता, जब तक गांठ नहीं खुल जाती। यह गांठ तब तक नहीं खुलती जब तक व्यक्ति बचपन की अवस्था में नहीं चला जाता, उस सूदूर अतीत की यात्रा पर नहीं निकल पड़ता। जब तक वह सरल बन कर अपने मन की बात को नहीं खोल देता, तब तक उस बीमारी से छुटकारा पाना मुश्किल है।

जैन आचार्यों ने विशुद्धि का एक सूत्र दिया—'अईयं पड़िक्कमामि—मैं अतीत का प्रतिक्रमण करता हूं।' अतीत में जो त्रुटि हुई, उसकी आलोचना करता हूं, उससे मुक्त होना चाहता हूं। यह अध्यात्म का सूत्र है, साथ-ही-साथ चिकित्सा का भी सूत्र है। एक मनोवैज्ञानिक भी पद्धति का सहारा लेकर ग्रंथि-मोक्ष करता है और मूल तक पहुंचता है।

ईसा ने कहा, जो भोले बालक की तरह होगा, उसके लिए स्वर्ग का द्वार खुल जाएगा। स्वर्ग के राज्य में सरल व्यक्ति ही प्रवेश पा सकता है, कपटी कभी प्रवेश नहीं पा सकता।

एक विचित्र बात है, बालक को कपटी और मायावी नहीं माना जाता। दस वर्ष की अवस्था को पार करने के बाद चाहे कोई कपट करे या न करे, माया करे या न करे—वह अवस्था कपटी और मायायुक्त मानी जाएगी। बड़ा आदमी कपट नहीं भी करता, फिर भी उसे कपटी मान लिया जाता है और बच्चा यदि कपट कर भी लेता है तो उसे कपटी नहीं माना जाता। बचपन की अवस्था को सर्वथा माया-मुक्त और कष्ट-मुक्त माना गया है। यह वह अवस्था है जिसमें सुख-दुख की अनुभूति कम होती है, तीव्रता कम होती है, स्मृतियां कम होती हैं। बच्चा न अपमान को याद रखता है और न प्रशंसा को याद रखता है। एक क्षण में वह अपने साथी से लड़ पड़ेगा और दूसरे क्षण में उस साथी के साथ खाने को बैठ जाएगा। यह है उसकी सरलता या अग्रंथि का बर्ताव। बड़ा आदमी बात छुपाता है और समझदार भी कहलाता है। बच्चा छुपाना नहीं जानता और नादान भी कहलाता है। उस समझदारी से यह नादानी अच्छी है। इसी से ग्रंथि-मोक्ष होता है, अतीत में यात्रा होती है।

कमरे में दादा-पोता बैठे थे। फोन की घंटी बजी। बच्चे ने 'रिसीवर' उठाया। बच्चे ने दादा से कहा—'अमुक व्यक्ति आपसे बात करना चाहता है।' दादा बोला—'कह दो, दादा बाजार गए हैं।' बच्चे ने तत्काल कहा—'हलो! दादाजी कह रहे हैं कि कह दो, दादा बाजार गए हैं।' यह है बच्चे की सरलता!

कवि सम्मेलन का आयोजन। एक कवि कविता-पाठ करने लगा। परिषद् से चप्पल और पत्थर आने लगे। उस कवि का मुंह लहूलुहान हो गया। वह मुंह पर रूमाल लपेटे घर गया। पत्नी बोली—मुंह पर रूमाल क्यों? अरे! लहू भी आ रहा है! क्या हुआ? वह बोला—कोई खास बात नहीं है। आगे के दो दांत हिल रहे थे। उन्हें उखड़वाना था। आज ऐसा संयोग मिला कि वे स्वयं उखड़ गए, इसलिए मुंह से रक्त आ रहा है। यह है बड़े की समझदारी या सरलता।

बड़ा आदमी बात छुपाता है। उसे सचाई तक जाने का अवसर ही नहीं मिलता। आदमी अधिक समझदार है,

इसीलिए कानून की पेचीदगियां और व्यवस्था की जटिलताएं दिनों-दिन बढ़ रही हैं। आदमी ज्यों-ज्यों समझदार होता जा रहा है, जटिलताएं बढ़ती जा रही हैं। समझदारी के साथ जटिलता का गहरा गठबंधन है। आदमी समझदारी से जटिलता का तानाबाना बुनता है, जाल बुनता है और स्वयं उसमें ऐसा फंसता है कि उससे मुक्त होना कठिन हो जाता है।

बचपन की अनुभूति अव्यक्त अवस्था की अनुभूति है। इस अवस्था में पहुंचना बहुत आवश्यक है। जब तक सारा व्यक्त ही रहेगा, तब तक ध्यान संभव नहीं है। ध्यान करने वाला भी साधक है, सिद्ध नहीं है। उसमें अहंकार, लोभ, कपट, घृणा, ईर्ष्या, कामवासना है। इनका एक साथ उन्मूलन नहीं हो सकता। ध्यान का प्रयोजन है—इनको अव्यक्त अवस्था में ले जाना। जो व्यक्त हैं, उन्हें अव्यक्त अवस्था में पहुंचाना। जब ये दोष अव्यक्त अवस्था में जाएंगे तब धीरे-धीरे इनका उपशमन होता जाएगा। ये सारे दोष निर्वीर्य और निष्क्रिय होते जाएंगे। जब इन दोषों को व्यक्त होने का मौका मिलेगा तब ये बार-बार प्रकट होते जाएंगे। इसलिए आवश्यक है कि इन दोषों को व्यक्त होने का अवसर न दिया जाए, उन्हें अव्यक्त बनाए रखें। इन आवेगों का विफलीकरण करना आवश्यक है। जब हम जीभ को उलट कर तालु की ओर ले जाते हैं तो फिर बोला नहीं जाता। यह क्रोध या कलह के विफलीकरण का एक उपाय है। यह वैसी ही प्रक्रिया है कि अग्नि वहां फेंकी जहां कोई घास-फूस नहीं है। वह अग्नि जलेगी नहीं, शीघ्र ही बुझ जाएगी। अग्नि का सफलीकरण नहीं होगा।

प्रत्येक व्यक्ति में तरंगें उठती हैं। मन की चंचलता के कारण व्यक्ति में कभी क्रोध की, कभी वासना की, कभी भय की और कभी माया की तरंगें उठती हैं। आदमी इनसे प्रभावित होता है। जो ध्यान करना जानता है वह इन तरंगों को शांत कर देता है। ध्यान इन तरंगों के उपशमन की प्रंक्रिया है, विफलीकरण की प्रक्रिया है। शत्रु को सफल न होने देना—यह रणनीति है। जिसकी रणनीति में शत्रु सफल होता जाता है, उसकी रणनीति विफल मानी जाएगी। इसी प्रकार भीतर में जो दोष हैं, उनके प्रति रणनीति यह है कि जितना उनको व्यक्त होने का अवसर मिलेगा, उतने ही वे सफल होंगे और जितना उन्हें अव्यक्त रखा जाएगा—वे दोष निष्फल होते चले जाएंगे।

भय एक आवेग है। भय तब सफल होता है, जब व्यक्ति डर कर भाग जाता है। जब आदमी डर कर भागता है तो भय उसका पीछा करता है। यदि उसका सामना किया जाए तो वह विफल हो जाएगा। किंतु, आदमी प्रत्येक परिस्थिति को इतना महत्त्व दे देता है कि छोटी परिस्थिति भी बड़ी बन जाती है। कोई भी परिस्थिति बड़ी नहीं होती, आदमी उसे बड़ी बना देता है। परिस्थिति को देखने से वह बड़ी नहीं बनती, छोटी हो जाती है। देखना महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है।

अतीत को देखा जाता है, अनागत को देखा जाता है और वर्तमान को देखा जाता है। आज हम अतीत-दर्शन की बात कर रहे हैं और उसमें भी प्रथम अवस्था—बचपन को देखने पर विचार कर रहे हैं। जो व्यक्ति वहां तक पहुंच जाता है, उसके सामने अनेक रहस्य अनावृत होते हैं और तब उसका व्यक्तित्व निराला होता है। उसी स्थिति में व्यक्ति अपने-आपको सही अर्थ में समझ सकता है कि मैं क्या हूं? मैं क्या था? जो मैं आज हूं वह किसका परिणाम है?

हमारा वर्तमान का जीवन अतीत का परिणाम है। उसे अतीत ने गढ़ा है। आज उसे हम देख रहे हैं। जिस बचपन का मैं आज परिणाम हूं, उस अवस्था को देख लेना महत्त्वपूर्ण है। परिणाम को नहीं मिटाया जा सकता, मिटाया जा सकता है प्रवृत्ति को। सामान्य आदमी परिणाम को मिटाने का प्रयत्न करता है, तभी उसे सफलता नहीं मिलती। ध्यान करने वाला परिणाम की ओर गौर नहीं करता, वह प्रवृत्ति को मिटाने का प्रयत्न करता है।

जब तक आदमी मूल तक नहीं पहुंचता, तब तक सही निदान भी नहीं हो सकता। हमारे व्यक्तित्व का मूल है बचपन—जहां बीजों की बुआई होती है। वहां पहुंच कर ही हम अवांछनीय वृत्तियों का उन्मूलन कर सकते हैं। बचपन हमारे जीवन की नींव है। उस नींव तक पहुंचना आवश्यक है। केवल वर्तमान को पकड़ना ही पर्याप्त नहीं है। अतीत का अवलोकन भी करना है। अतीत में चलते-चलते बचपन में जाना है। जिस दिन हम बचपन की दहलीज पर पैर रखेंगे, उस दिन यह स्पष्ट ज्ञात हो जाएगा कि मैं कौन हूं? मैंने क्या किया था, जिसका आज मैं परिणाम हूं? इन सारे प्रश्नों का उत्तर मिलेगा और नया आलोक जीवन में अवतरित होगा। ❖

समस्त भारतीय दर्शन (वैदिक-अवैदिक) में अज्ञान को ही पुनर्जन्म का मूल कारण माना गया है। इसलिए ज्ञान को ही इससे मुक्ति का साधन भी माना गया है। वस्तुतः, बार-बार जन्म-मरण का यह चक्र अत्यंत पीड़ादायक, दुःखदायक एवं निरंतर बंधन का हेतु है। इसलिए इस चक्र से छुटकारा पाना जीवात्मा का परम लक्ष्य है। जरा-मरण रूपी बार-बार प्रेत्यभाव के इस चक्रव्यूह से छूटने को ही मोक्ष कहते हैं, जो कि भारतीय दर्शन में परम पुरुषार्थ माना गया है। इस परम पुरुषार्थ की प्राप्ति होने पर आत्मा को अपने उस वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो जाता है, जिससे अविद्या के कारण जीवात्मा अपरिचित होता है। अविद्या के कारण जीवात्मा सांसारिक भोग-विषयों से जकड़ा रहता है। अतः ज्ञान द्वारा वह नित्यमुक्त हो जाता है। इसीलिए भारतीय दर्शन में माना गया है कि ज्ञान से मृत्यु के पाशों को काटा जा सकता है।

पुनर्जन्म : भारतीय दृष्टि

❑ डॉ. संतोष आचार्य ❑

प्रतीक्षा करने वालों के लिए रात लंबी होती है,
क्लांत पथिक के लिए मार्ग लंबा होता है—
जो सत्य के प्रकाश को नहीं देखता उसके लिए बारंबार
जन्म-मरण की शृंखला की पीड़ा बहुत लंबी होती है।[1]

मनुष्य को जब तक सत्य का ज्ञान नहीं होता, तब तक वह पुनर्जन्म अर्थात् बार-बार जन्म और मृत्यु को प्राप्त होता रहता है। जन्म और मृत्यु प्राणी के लिए उतना ही सत्य है जितना कि सत्य, सत्य है। वस्तुतः मृत्यु जीवन का अंत है और जन्म जीवन का प्रारंभ है। इन दोनों को बांधे रखने वाली कड़ी पुनर्जन्म है। दूसरे शब्दों में, व्यावहारिक जीवन में हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि कहीं मृत्यु का विलाप होता है तो कहीं नवजीवन का आलाप होता है। जाहिर है जन्म और मृत्यु के चक्र की निरंतरता को बरकरार रखने वाला कारण पुनर्जन्म ही है। सामान्यतः जन्मोपरांत ही मरण होता है और यदि मरणोपरांत पुनर्जन्म की मान्यता को अस्वीकार किया जाए तो मृत्यु... मृत्यु... मृत्यु और अंत में केवल मृत्यु का ही साम्राज्य होगा। उसके साथ जीवन का निःशेष अंत होगा। स्वामी विवेकानंद ने भी इस संदर्भ में कहा है कि—'अगर भविष्य में चिरकाल के लिए तुम्हारा अस्तित्व रहना संभव हो, तो यह भी सच है कि अनादिकाल से तुम्हारा अस्तित्व था। इसके अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकता।'[2] इसीलिए भारतीय दर्शन में पुनर्जन्म-मान्यता को केवल सैद्धांतिक रूप से ही स्वीकार नहीं किया गया, बल्कि उसे व्यावहारिक-नैतिक जीवन में भी अंगीकार किया गया है।

इस प्रसंग में सर्वप्रथम यह स्पष्टीकरण अनिवार्य है कि कोई भी विषय-वस्तु निराधार नहीं रहते, अतः पुनर्जन्म सिद्धांत भी निराधार हो, ऐसा नहीं है। भारतीय-दर्शन की दृष्टि से मुख्य रूप से इसके निम्नलिखित तीन आधार बताए जा सकते हैं—

(1) आत्मा की अमरता

(2) कर्मवाद का सिद्धांत

(3) शरीर के प्रकार

भारतीय दर्शन के अनुसार पुनर्जन्म की इमारत जिस बुनियाद पर खड़ी है, वह है नित्य-आत्मा की सत्ता को स्वीकार करना। जैसा कि कठोपनिषद् में कहा गया है—'यह चेतन जीव न उत्पन्न होता है, न मरता है, न यह

किसी कारण से उत्पन्न हुआ है, न पहले कभी हुआ था। यह अजन्मा है, नित्य है, निरंतर है, पुरातन है—शरीर के मरने पर भी यह नहीं मरता।'[3] श्री मद्भगवद्गीता में भी कहा गया है—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः।।[4]

इस प्रकार हम पाते हैं कि भारतीय दर्शन के अनुसार आत्मा का जन्म-पुनर्जन्म चक्र मोक्ष प्राप्ति नहीं होने तक चलता रहता है। अतः आत्म-तत्त्व मृत्यु के बाद भी बना रहता है। यदि ऐसा न माना जाए तो पुनर्जन्म सिद्धांत स्वतः खंडित हो जाता है, अर्थात् यह धारणा नित्य-आत्मा के अस्तित्व पर आधृत है। इस प्रकार यह लक्ष्य पूर्णतया स्पष्ट है कि मृत्यूपरांत भी आत्मा का अस्तित्व बना रहता है। एक शरीर के समाप्त होने पर पुनर्जन्म के रूप में यह नवीन शरीर धारण करता है। इसीलिए दर्शनशास्त्र में तीन प्रकार के शरीर माने गए हैं—

(1) स्थूल शरीर
(2) सूक्ष्म शरीर/लिंग शरीर
(3) कारण शरीर

पांच ज्ञानेंद्रियों, पांच कर्मेंद्रियों, पांच प्राणों, पंच महाभूत व अंतःकरणों से मिलकर जो शरीर बनता है, उसे स्थूल शरीर कहते हैं। पांच ज्ञानेंद्रियों, पांच कर्मेंद्रियों, पांच प्राण, मन व बुद्धि के संयोग से मिलकर जो शरीर बनता है उसे सूक्ष्म शरीर कहते हैं। अविद्या से संयुक्त जीव का सुषुप्तावस्था में जो शरीर होता है, उसे कारण शरीर कहते हैं।

अपने माता-पिता से प्राप्त पार्थिव शरीर स्थूल शरीर है और मृत्यु होने से यह अपने कारणों (पंचतत्त्वों) में विलीन हो जाता है। परंतु आत्मा एवं समस्त वासनाओं सहित सूक्ष्म शरीर मृत्यु के बाद भी स्थूल शरीर के समाप्त हो जाने पर समाप्त नहीं होता, बल्कि मृत्यूपरांत स्थूल शरीर के विनिष्ट हो जाने पर भी सूक्ष्म शरीर की काम-वासना के कारण पुनर्जन्म होता है। अतः स्पष्ट है कि मृत्यु के उपरांत आत्मा स्थूल शरीर का त्याग करती है तो पूर्वजन्म के कर्मानुसार लिंग शरीर नया जन्म लिया करता है। जिस प्रकार फूल में सुगंध तथा कपड़े में रंग लिपटा रहता है, उसी प्रकार लिंग शरीर में ये भाव भी लिपटे रहते हैं। गीता में बताया गया है कि जिस प्रकार की काम-भावना लेकर जीव शरीर छोड़ता है, उसी भावना के अनुकूल अगला शरीर मिलता है।

उपरोक्त विवेचन से यह धारणा सिद्ध होती है कि पुनर्जन्म-मान्यता कर्मवाद पर आधृत है। वस्तुतः, हम ऐसा कह सकते हैं कि पुनर्जन्म-धारणा अनिवार्यतः कर्म सिद्धांत की भित्ति पर आधृत है। इस संदर्भ में भारतीय दर्शन में कर्म-विवेक की दृष्टि से कर्मों के तीन प्रकार बताए गए हैं—

संचित कर्म—किसी मनुष्य के द्वारा वर्तमान क्षण तक किया गया जो कर्म है, चाहे वह इस जन्म में किया हो अथवा पूर्वजन्म में, वह उसका संचित कर्म कहलाता है। व्यक्ति द्वारा किए गए समस्त कर्मों का संग्रह संचित कर्म है।

प्रारब्ध कर्म—जिन संचित कर्मों का फल भोगना प्रारंभ हो जाता है, उन्हें प्रारब्ध कर्म कहते हैं।

क्रियमाण कर्म—जो कर्म अभी किए जा रहे हैं, वे क्रियमाण कर्म कहलाते हैं।

अतः, स्पष्ट है कि वर्तमान जीवन में मनुष्य को अपने संचित कर्मों का फल मिलता है और उसके द्वारा संपादित वर्तमान कर्म या क्रियमाण कर्म भविष्य में संचित होता रहता है। इस प्रकार, संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण कर्मों का यह चक्र चलता है। इसी कारण पुनर्जन्म होता है। इस प्रकार, यह कहा जा सकता है कि मनुष्य द्वारा किए गए कर्म ही उसके पुनर्जन्म का निर्धारण करते हैं। इसी मान्यता के कारण मनुष्य को यह नीतिबोध होता है कि कोई भी अपने किए कर्मफलों के भोग से बच नहीं सकता। पूर्वजन्म में जो किया वह अविनाशी है और वह सदा वर्तमान जन्म में दैव रूप में मनुष्य का अनुसरण करता है, जिसके फल उसके इस जन्म में प्रकट होते हैं। इस जन्म के कर्म पुनः फलों का संचय करते हैं, जिन्हें अगले जन्म में भोगना पड़ता है। अतः स्पष्ट है कि कर्म और पुनर्जन्म का अविच्छेद्य संबंध है। इसीलिए वैदिक, जैन एवं बौद्ध—तीनों प्रकार की भारतीय परंपराओं में कर्ममूलक पुनर्जन्म की मान्यता स्वीकार है।

पुनर्जन्म सिद्धांत का यदि वैदिक दृष्टि से अवलोकन करें तो हम पाते हैं कि इस संदर्भ में वेदों में अधिक चर्चा नहीं है, लेकिन इसका अस्पष्ट, साथ ही मौलिक संकेत अवश्य उपलब्ध होता है। ऋग्वेद में कहा गया है—मरण धर्म वालों के अन्न-युक्त होता हुआ वह अमर जीव स्वधा भक्षण करता हुआ रहता है।[5] यहां इसका तात्पर्य यह है कि—'मृत शरीर का जीव-तत्त्व उस शरीर से निकल कर अपनी वृत्तियों, स्वधाओं के अनुसार धारण करने वाली कृतियों तथा स्वभावों के अनुकूल अमर होता हुआ भी मर्त्य

शरीर को अपना सयोनि बनाकर विचरण करता है, अर्थात् एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर को धारण करता है।'[6] इस विवेचन से स्पष्ट होता है कि यद्यपि पुनर्जन्म संबंधी अवधारणा का विकास उत्तरवैदिक काल (उपनिषद्-काल) में हुआ, लेकिन इसका उद्भव या सूत्रपात वैदिक काल में ही हो चुका था।

वेदों में अस्पष्ट रूप से वर्णित पुनर्जन्म का प्रत्यय उपनिषदों में असंदिग्ध रूप से स्पष्ट होता है। वहां पुनर्जन्म की अवधारणा को सिद्ध करने की दृष्टि से जन्म लेने वाले जीव को संबोधित करते हुए कहा गया—

अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य तथादवरे
सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः।[7]

अर्थात् जो तुमसे पहले हो चुके हैं, उन्हें देख और जो तेरे पीछे होंगे, उन्हें देख। यह मरने वाला मनुष्य अन्न की तरह पैदा होता है, पकता है, नष्ट हो जाता है, फिर उत्पन्न हो जाता है। कठोपनिषद् के इस सूत्र में मनुष्य की तुलना उत्पत्ति-विनाशशील अन्न के साथ की गई है। उपनिषदों में अनेक स्थलों पर पुनर्जन्म सिद्धांत को दृष्टांतों द्वारा सिद्ध किया गया है। वृहदारण्यक उपनिषद् में उदाहरण देते हुए कहा गया है—'जैसे तृण जलायुका—सुंडी तिनके के अंत पर पहुंच कर दूसरे तिनके को सहारे के तौर पर पकड़ कर अपने-आप को खींच लेती है, उसी प्रकार यह आत्मा इस शरीर-रूपी तिनके को त्यागकर, इसे ज्ञान से शून्य करके दूसरे शरीर-रूपी तिनके में पहुंचा कर अपने-आप को समेट लेता है।' वृहदारण्यक उपनिषद् के ही ठीक अगले सूत्र में पुनर्जन्म सिद्धांत को इस उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया गया है—'जैसे सुनार सोने की एक मात्रा लेकर उसी से नवतर और कल्याणतर रूप बना लेता है, इसी प्रकार यह आत्मा इस शरीर को परे फेंक कर, अविद्या को दूर कर इसका नवतर और कल्याणतर रूप बना देता है।'[8]

उपनिषदों के समान गीता दर्शन में भी इस संदर्भ में उदाहरण दिया गया है। गीता के अनुसार जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्यागकर दूसरे नए वस्त्रों को ग्रहण करता है वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीर को त्यागकर दूसरे नए शरीर को प्राप्त करता है।

उपरोक्त विवेचन में वेद, उपनिषद् और गीता में विवेचित पुनर्जन्म मत को स्पष्ट किया गया है। इसी संदर्भ में उपनिषद् और गीता में मृत्यूपरांत आत्मा की गति के तीन मार्गों का उल्लेख भी किया गया है—

(1) देवयान मार्ग,

(2) पितृयान मार्ग,

(3) जायस्व म्रियस्व मार्ग।

उपनिषद् और गीता के अनुसार जो मनुष्य इस जन्म में निष्काम भाव से प्रेरित होकर कर्म करते हैं या जो निष्काम-कर्मी हैं, मृत्यूपरांत वे देवयान मार्ग से जाते हैं और मुक्त हो जाते हैं। अतः स्पष्ट है कि इस जन्म में जो निष्काम कर्म करते हैं, वे मोक्ष को प्राप्त होते हैं। उनका पुनः-पुनः पुनर्भव नहीं होता। इसके विपरीत, जो सकाम-कर्मी हैं वे पितृयान मार्ग से पितृलोक पहुंचते हैं। पितृलोक से सकाम-कर्मी आकाशमार्ग द्वारा चंद्रलोक पहुंचते हैं। चंद्रलोक में अपने कर्मों का कर्मफल भोग कर वापस मृत्युलोक में पुनर्जन्म लेते हैं। छांदोग्योपनिषद् के अनुसार कर्मफल-भोग पूर्ण हो जाने पर जब जीवात्मा वापस मृत्युलोक में लौटते हैं, तो अगर यहां से चंद्रलोक जाते समय उनका आचरण अच्छा रहा हो, तो शीघ्र ही वे अच्छी योनि में पुनर्जन्म लेते हैं—जैसे ब्राह्मण योनि या क्षत्रिय योनि या वैश्य योनि में। लेकिन जिनका आचरण बुरा रहा हो तो वे शीघ्र ही बुरी योनि में पुनर्जन्म लेते हैं—जैसे कुत्ते या सुअर की योनि या चांडाल की योनि में।

उपनिषद् व गीता में बताए गए देवयान और पितृयान—इन दोनों में से जो किसी एक से नहीं जाते, वे छोटे-छोटे जंतु, कीट-पतंग की तरह बार-बार जन्म लेने वाले होते हैं—उनका जायस्व म्रियस्व, जन्म-मरण—यह तीसरा मार्ग है। इसी तीसरी स्थिति के कारण वह लोक अर्थात् परलोक भर नहीं जाता, क्योंकि वहां जन्म लेने वाले पुनः पृथ्वी पर लौट आते हैं।

अतः, स्पष्ट है कि सकाम भाव से या कामना के वशीभूत होकर किए जाने वाले कर्मों के कारण ही पुनर्जन्म होता है। मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है कि जो व्यक्ति कामनाओं को ही सब-कुछ मान बैठा, उन्हीं की आराधना करता है—वह उन कामनाओं से भिन्न-भिन्न योनियों में उत्पन्न होता है। अतः अपने भविष्य का निर्माता व्यक्ति स्वयं है। वर्तमान भव में किए गए शुभाशुभ कर्मों से ही उसके भविष्य जन्म का निर्धारण होता है। इसीलिए भारतीय दर्शन में वर्तमान जीवन में सत्कर्म करने की प्रेरणा दी गई है। इस संदर्भ में न्यायसूत्र में विवेचन किया गया है कि नव-शिशु के हर्ष, भय, शोक आदि का कारण उसके पूर्वजन्म की स्मृति है। इसी प्रकार पूर्वजन्म में किए

हुए आहार के अभ्यास से ही शिशु स्तन-पान करने लगता है।

इस प्रकार यहां वेद, उपनिषद् और गीता में विवेचित पुनर्जन्म मान्यता को स्पष्ट किया गया है। इसके साथ ही समग्र भारतीय दर्शन में भी इस मान्यता को परिपुष्ट किया गया है।

सांख्य दर्शन में सूक्ष्म शरीर को पुनर्जन्म का कारण मानते हुए कहा गया है कि मृत्यु के पश्चात् पुरुष के कृतकर्मों के संस्कार—जिन्हें 'भाव' कहते हैं और जो लिंग शरीर के साथ अनुस्यूत होते हैं—पुरुष को साथ लेकर परलोक तथा जन्मांतर में भोग करते हैं। अतः सांख्यमतानुसार जब तक आत्मा के साथ सूक्ष्म शरीर रहता है, तब तक यह पुनर्जन्म के चक्रव्यूह से मुक्त नहीं हो सकता। इसी प्रकार न्याय-दर्शन में आत्मा की अमरता के आधार पर पुनर्जन्म का विवेचन करते हुए कहा गया है कि आत्मा का नित्यत्व जन्मांतरण की सिद्धि में सहायक है (आत्मनित्यत्व प्रेस्यभावसिद्धिः।) इसी प्रकार अन्य वैदिक दर्शनों में भी पुनर्जन्म के संबंध में व्याख्या की गई है। वस्तुतः वैदिक दर्शन (न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, मीमांसा-वेदांत) को वेद व उपनिषद् में मान्य पुनर्जन्म संबंधी अवधारणा स्वीकार्य है। अतः उनका पृथक् विवेचन अप्रासंगिक होगा।

वेदाधारित दर्शनों के साथ-साथ अवैदिक दर्शनों—जैन और बौद्ध—में भी यह धारणा स्वीकृत है। बौद्ध दर्शन में यद्यपि आत्मा की नित्यता अस्वीकार्य है, तथापि जीव के पुनर्जन्म को मान्य किया गया है। बौद्ध दर्शन का मत है कि जिस प्रकार एक दीपक दूसरे दीपक को जला देता है और हम समझते हैं कि वही दीप प्रज्वलित है, उसी प्रकार एक जीवन के संस्कार द्वारा दूसरे जीवन की संतति जारी हो जाती है और जीवात्मा का तारतम्य जारी रहता है। इसी प्रकार कर्म और पुनर्जन्म का संबंध स्पष्ट करते हुए बुद्ध ने माना है कि इस जन्म में मिलने वाला दुख मनुष्य के पूर्वकृत कर्मों का फल है। इस संदर्भ में कहा गया है कि जब एक पीड़ित शिष्य बुद्ध के पास कटे हुए माथे को लेकर और जख्मों से खून बहाते हुए आया तो बुद्ध ने कहा—'इसे ऐसा ही रहने दो। हे अर्हत... तुम अब अपने कर्मों के फल को भोग रहे हो, जिसके लिए अन्यथा तुम्हें पापमोचन स्थान में शताब्दियां लग जातीं।'[10] बौद्ध दर्शन की पुनर्जन्म मान्यता इस बात से परिपुष्ट होती है कि स्वयं महात्मा बुद्ध ने अपने पैर में चुभने वाले कांटे को पुनर्जन्म में किए हुए प्राणीवध का विपाक बताया है।

जैन मत में भी पुनर्जन्म की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए माना गया है कि—'आत्मा द्रव्य रूप से नित्य है, किंतु पर्याय रूप से अनित्य है। इस मत में एक पर्याय के अनंतर दूसरा पर्याय ग्रहण आवश्यक हो जाता है, क्योंकि बिना पर्याय के द्रव्य कभी रह नहीं सकता।'[11] जैन दर्शन के अनुसार इस प्रकार होने वाले जन्म एवं मृत्यु की जड़ कर्म है। राग-द्वेष आदि कर्मबंध के और कर्म जन्म-मृत्यु की परंपरा के हेतु हैं। इसीलिए स्वयं भगवान महावीर ने कहा है कि—'क्रोध, मान, माया और लोभ—ये पुनर्जन्म के मूल को पोषण देने वाले हैं।'[12] मृत्यूपरांत जीव की गति का उल्लेख करते हुए जैन दर्शन में माना गया है कि मृत्यूपरांत प्राणी अपने द्वारा संपादित कर्मों के अनुसार मनुष्य, त्रिर्यंच, नारक और देव—इन चार गतियों में से किसी एक गति में जाकर जन्म ग्रहण करता है। जीव जब एक शरीर को त्यागकर दूसरे शरीर को धारण करता है तो देहांतर-गमन की इस प्रक्रिया में जीव के आनुवर्ती 'नाम कर्म' सहायक होते हैं। इस मान्यता को जैन दर्शन में एक दृष्टांत द्वारा स्पष्ट किया गया है—जैसे बैल को इधर-उधर ले जाने के लिए नाथ की सहायता अपेक्षित होती है, उसी प्रकार जीव को एक से दूसरी गति में पहुंचने के लिए आनुवर्ती 'नाम कर्म' की मदद की जरूरत पड़ती है।

अतः स्पष्ट है कि आत्मा के पूर्वकृत कर्म उसके नवजीवन या पुनर्जन्म का हेतु होते हैं। इस प्रकार कर्मपाशों के समूल नष्ट होने पर ही पुनर्जन्म का समूल अंत होता है। इसीलिए जैन मान्यता है कि कर्म नित्यरूप से आत्मा से लिपटे रहेंगे—ऐसी बात नहीं है, बल्कि परिपाक-काल (कर्मफल-भोग पूर्ण हो जाने पर) के बाद कर्म आत्मा से विलग हो जाते हैं, अतएव आत्मा की कर्ममुक्ति में कोई बाधा नहीं आती। आत्मा के कर्मों से विलग हो जाने पर भी आत्ममुक्ति या पुनर्जन्म मुक्ति की शर्त है कि अब जीव नवीन कर्मों का उपार्जन न करे। इसके लिए आत्म-संयम आवश्यक है। आत्मसंयम या ज्ञानोपरांत नए कर्म-परमाणु आत्मा से चिपकने बंद हो जाते हैं। पहले चिपके हुए कर्म-परमाणु तप और वैराग्य द्वारा धीरे-धीरे निर्जीर्ण हो जाते हैं। इस प्रकार आत्मसंयम की स्थिति में नए कर्मों का बंध नहीं होता और पुराने कर्म टूट जाते हैं। इसीलिए अविद्यावश जीव कर्म के जिस अनादि प्रवाह में बह रहा था, ज्ञान द्वारा

वह प्रवाह रुक जाता है। लेकिन अविद्या के अनादि कर्मजाल में फंसे रहने वाले जीव नए-नए कर्मों का संचय करते हैं। उसी के द्वारा उन्हें पूर्वभव और पुनर्भव की परंपरा बारंबार दोहरानी पड़ती है।

अतः, जैन मत का यह दृढ़मूल विश्वास है कि आत्मा के पूर्वकर्म संस्कारों के कारण ही पुनर्जन्म की प्रक्रिया अविराम गति से चलते रहती है। मनुष्य के पूर्वकृत कर्म अपने विलोप के अवसर पर आत्मा को प्रकाशित करते हैं, उनसे प्रभावित होकर आत्मा नवीन कर्मों का संचय करती है, जिसके परिणामस्वरूप पुनर्जन्म होता है। इस संबंध में एक तथ्य स्पष्ट करना प्रासंगिक होगा कि वैदिक और अवैदिक—सभी दार्शनिक मत अविद्या या मानवीय अज्ञान को ही पुनर्जन्म का हेतु मानते हैं। वेद, उपनिषद् और वेदाधारित समस्त दर्शनों में यह बात स्पष्ट है कि यह आत्मा नित्य शुद्धबुद्धयुक्त है, लेकिन अविद्यावश वह जन्म-मृत्यु के चंगुल में फंसती है। इसी प्रकार अवैदिक जैन दर्शन में भी माना गया है कि निश्चय नय दृष्टि से आत्मा अनंत चतुष्टय (अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत सुख तथा अनंत वीर्य) युक्त है। लेकिन व्यवहार नय की दृष्टि से अविद्यावश यह जीवात्मा कर्ता, भोक्ता, ज्ञाता और संसारी प्रतीत होता है। इसी प्रकार, बौद्ध मत के द्वितीय आर्यसत्य में विवेचित 'संसार-चक्र' में भी अविद्या को ही मनुष्य के दुखों का मूल कारण और पुनर्भव का हेतु माना गया है।

अतः, स्पष्ट है कि समस्त भारतीय दर्शन (वैदिक-अवैदिक) में अज्ञान को ही पुनर्जन्म का मूल कारण माना गया है। इसलिए ज्ञान को ही इससे मुक्ति का साधन भी माना गया है। वस्तुतः, बार-बार जन्म-मरण का यह चक्र अत्यंत पीड़ादायक, दुःखदायक एवं निरंतर बंधन का हेतु है। इसलिए इस चक्र से छुटकारा पाना जीवात्मा का परम लक्ष्य है। जरा-मरण रूपी बार-बार प्रेत्यभाव के इस चक्रव्यूह से छूटने को ही मोक्ष कहते हैं, जो कि भारतीय दर्शन में परम पुरुषार्थ माना गया है। इस परम पुरुषार्थ की प्राप्ति होने पर आत्मा को अपने उस वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो जाता है, जिससे अविद्या के कारण जीवात्मा अपरिचित होता है। अविद्या के कारण जीवात्मा सांसारिक भोग-विषयों से जकड़ा रहता है। अतः ज्ञान द्वारा वह नित्यमुक्त हो जाता है। इसीलिए भारतीय दर्शन में माना गया है कि ज्ञान से मृत्यु के पाशों को काटा जा सकता है।

पुनर्जन्म की इस कल्पना को केवल हिंदू धर्म या केवल आस्तिकवादियों ने ही माना हो, ऐसी बात नहीं है। पुनर्जन्म मान्यता को स्वीकार करने में निरीश्वरवादी (जैन-बौद्ध) भी पीछे नहीं हैं। इस संदर्भ में बीसवीं शताब्दी में 'परमेश्वर मर गया'—कहने वाले पक्के निरीश्वरवादी जर्मन पंडित नीत्शे ने भी पुनर्जन्मवाद को स्वीकार किया है। इसी शृंखला में कांट भी आते हैं, क्योंकि कांट ने भी जिस आदर्श व्यक्ति को स्वीकार किया है तथा जिसे वह अपने नैतिक जीवन की मध्यस्थता से अभिव्यक्त करना चाहता है, उसकी प्राप्ति एक जीवन की संक्षिप्त अवधि में असंभव है। इसलिए कांट का मत है कि लक्ष्य की सार्थकता को प्रतिष्ठित रखने के लिए यह आवश्यक है कि हम किसी-न-किसी रूप में, आगामी जीवन की संभावना को स्वीकार करें। अन्यथा, इस जन्म के अधूरे प्रयास चरम निष्पत्ति के अभाव में निरर्थक होंगे।

अंततः, हम कह सकते हैं कि पुनर्जन्म सिद्धांत एक ओर मनुष्य को निरंतर जन्म-मृत्यु चक्र में बांध कर नैराश्य का संचार करता है, वहीं दूसरी ओर पुनर्जन्म मान्यता मृत्यु के भय से मनुष्य को मुक्त कर पुनर्भव रूप में नूतन उज्ज्वल भविष्य का आश्वासन देकर आशा का संचार करती है; साथ ही, हमें यह संदेश देती है कि मनुष्य को मृत्यु का शोक नहीं करना चाहिए, क्योंकि जिस प्रकार हमारा अस्तित्व हमारा है, उसी प्रकार हमारी मृत्यु भी हमारी है, यह हमारे अस्तित्व का अंत नहीं, वरन् नव-जीवन का प्रारंभ है। ❖

संदर्भ सूची

1. राधाकृष्णन : भारतीय दर्शन भाग-1, पृष्ठ 384
2. विवेकानंद साहित्य (द्वितीय खंड), पृष्ठ 113
3. कठोपनिषद् 2/18
4. गीता 2/23
5. ऋग्वेद 1/16/36
6. कल्याण (पुनर्जन्म एवं परलोक विशेषांक), पृष्ठ 169
7. कठ उपनिषद 1/6
8. वृह. उपनिषद् 4/4/3.4
9. न्यायसूत्र 4/1/10
10. राधाकृष्णन : भारतीय दर्शन भाग-1, पृष्ठ 405
11. गिरधर चतुर्वेदी : गीता प्रवचन (गीता व्याख्यानमाला) (भाग-1), पृष्ठ 183
12. आचार्य महाप्रज्ञ : जैन दर्शनःमनन और मीमांसा, पृष्ठ 295

❖❖

दर्शन एक ऐसा आध्यात्मिक ज्ञान है, जो आत्मा-रूपी इंद्रिय के समक्ष संपूर्ण रूप में प्रकट होता है। यह आत्मदृष्टि, जो वहीं संभव है जहां दर्शनशास्त्र का अस्तित्व है, एक सच्चे दार्शनिक की स्पष्ट पहचान है। इस प्रकार दर्शनशास्त्र के विषय में उच्चतम विजय उन्हीं व्यक्तियों को प्राप्त हो सकती है, जिन्होंने अपने अंदर आत्मा की पवित्रता को प्राप्त कर लिया है। इस पवित्रता का आधार है अनुभव की प्रगाढ़ स्वीकृति, जो केवल उसी अवस्था में साक्षात् हो सकती है जब मनुष्य को अंतर्निहित उस शक्ति की उपलब्धि हो, जिसके द्वारा वह न केवल जीवन का निरीक्षण ही, अपितु पूर्णतया ज्ञान प्राप्त कर सके। इस अंतस्तम निकास से ही दार्शनिक हमारे सामने जीवन के सत्य को प्रकट करता है—उस सत्य को, जो केवल बुद्धि द्वारा प्रकाश में नहीं आ सकता।

भारतीय विचारधारा की सामान्य विशेषताएं

❑ डॉ. राधाकृष्णन ❑

समस्त दर्शनशास्त्र की परम धारणा है कि कोई भी पदार्थ, जो यथार्थ सत् है, स्वतः-विरोधी नहीं हो सकता। विचारधारा के इतिहास में इस धारणा के महत्त्व को समझने और ज्ञानपूर्वक उसका उपयोग करने के लिए कुछ समय अवश्य चाहिए। ऋग्वेद में साधारण ज्ञान की प्रामाणिकता की आकस्मिक स्वीकृति पाई जाती है। जब हम उपनिषदों की विकासावधि पर पहुंचते हैं, तार्किक समस्याएं प्रादुर्भूत होकर ज्ञान के मार्ग में कठिनाइयां उपस्थित कर देती हैं। उन कठिनाइयों के अंदर ज्ञान की मर्यादाएं निर्दिष्ट करके अंतरदृष्टि के लिए उचित स्थान की व्यवस्था कर दी गई है। किंतु यह सब अर्धदार्शनिक विधि के रूप में है।

जब तर्क की शक्ति में विश्वास उठने लगा तब संशयवाद ने सिर उठाया और भौतिकवादी लोकायत एवं शून्यवादी दार्शनिक क्षेत्र में उतर आए। उपनिषदों की व्यवस्था को स्वीकार करते हुए कि अदृश्यमान सत्ता को तार्किक बुद्धि द्वारा नहीं जाना जा सकता, बौद्धमत ने जगत् की अवास्तविकता पर जोर दिया। इस सिद्धांत के प्रति वस्तुओं के स्वभाव का विरोध है और अनुभूत जगत् में विरोधी तत्त्वों के परस्पर खिंचाव के अतिरिक्त और-कुछ है भी नहीं। वस्तुसत्ता के अतिरिक्त और-कुछ है, इसे हम नहीं जान सकते। और चूंकि यह स्वतः-विरोधी है, इसलिए यह यथार्थ नहीं हो सकता। बौद्धमत के विकास का अंत इसी परिणाम के साथ होता है। नागार्जुन के सिद्धांत में उपनिषदों की मुख्य व्यवस्था का दार्शनिक दृष्टि से समर्थन किया गया है। वास्तविक सत्ता का अस्तित्व है, यद्यपि हम उसे नहीं जान सकते और जो-कुछ हम जानते हैं वास्तविक नहीं है, क्योंकि जगत् की बुद्धिगम्य पद्धति के रूप में की गई प्रत्येक व्याख्या भंग हो जाती है। इस सबने तर्क की आत्मचेतना समीक्षा के लिए मार्ग तैयार किया। विचार अपने-आपमें परस्पर-विरोधी एवं अपर्याप्त है। मतभेद उत्पन्न होते हैं, जबकि प्रश्न किया जाता है कि ठीक-ठीक यथार्थता को ग्रहण करने की दृष्टि के यह अयोग्य क्यों है? क्या इसलिए कि यह भिन्न-भिन्न भागों का प्रतिपादन करता है, पूर्ण रूप को नहीं लेता अथवा क्या इसलिए है कि इसकी रचना ही ऐसी है कि यह अक्षम है अथवा यह अंतर्निहित स्वतः-विरोधिता के कारण है?

जैसाकि हम देख चुके हैं, ऐसे व्यक्ति भी हैं जिनके मत में वास्तविक सत्ता तर्कगम्य है, किंतु वास्तविक सत्ता ही स्वयं-मात्र बुद्धि नहीं है। इस प्रकार से विचार संपूर्ण सत्ता का ज्ञान कराने में असमर्थ है। ब्रैडले के शब्दों में 'वह' 'क्या' से ऊपर है। विचार हमें वास्तविक सत्ता का ज्ञान कराता है, किंतु वह केवल ज्ञान-मात्र है—स्वयं वस्तुसत्ता नहीं है। दूसरी ओर ऐसे भी व्यक्ति हैं, जिनका विश्वास है

इस आलेख की
—तीसरी व आखिरी किस्त—

कि वास्तविक सत्ता स्वतः-संगत है और जो-कुछ विचार है—स्वतः-असंगत है। विचार ज्ञाता और ज्ञेय पदार्थ के विरोध के साथ काम करता है और परम वास्तविक सत्ता ऐसी है जिसमें ये प्रतिकूल तत्त्व नष्ट हो जाते हैं। अत्यंत ठोस विचार, जहां तक यह अनेक को एक में संयुक्त करने का प्रयत्न करता है, फिर भी अमूर्त है, क्योंकि यह स्वतः-विरोधी है और यदि हम वास्तविक सत्ता को ग्रहण करना चाहते हैं तो हमें विचार को त्याग देना होगा। प्रथम कल्पना के ऊपर विचार जो-कुछ प्रकाशित करता है, वह वस्तु-सत्ता के विरोध में नहीं जाता, किंतु केवल एक भाग का ही प्रकाश करता है। अवयव-विशेष से संबंध रखने वाले विचार परस्पर विरोधी इसीलिए होते हैं कि वे आंशिक हैं। जहां तक उनकी पहुंच है वहां तक ही वे सत्य हैं, किंतु पूर्ण सत्य नहीं। दूसरी कल्पना हमें बताती है कि वास्तविक सत्ता का ज्ञान एक प्रकार की विशेष भावना अथवा अंतर्दृष्टि द्वारा प्राप्त हो सकता है।[1] पहले मत वाले भी, यदि यथार्थ सत्ता का पूर्ण रूप में जानना अभीष्ट है तो, भावना द्वारा विचार का स्थान ग्रहण करने का आग्रह करते हैं। विचार के अतिरिक्त भी हमें एक अन्य तत्त्व की आवश्यकता है और वह है—'दर्शन'—जिस शब्द का प्रयोग दार्शनिक पद्धति, सिद्धांत अथवा शास्त्र के लिए होता है।

'दर्शन' शब्द की उत्पत्ति 'दृश्' धातु से हुई है, जिसका अर्थ है 'देखना'। यह दर्शन या तो इंद्रियजन्य निरीक्षण हो सकता है या प्रत्ययी ज्ञान अथवा अंतर्दृष्टि द्वारा अनुभूत हो सकता है। यह घटनाओं के सूक्ष्म निरीक्षण, तार्किक परीक्षण अथवा आत्मा के अंतर्निरीक्षण द्वारा भी प्राप्त हो सकता है। साधारणतः दर्शनों से तात्पर्य आलोचनात्मक व्याख्याओं (भाष्य), तार्किक सर्वेक्षणों अथवा दार्शनिक पद्धतियों से होता है। दार्शनिक विचार की प्रारंभिक अवस्थाओं में दर्शन शब्द का प्रयोग इन अर्थों में हमें नहीं मिलता, क्योंकि उस समय दार्शनिक ज्ञान अधिकतर आभ्यंतर दृष्टिपरक था। यह दर्शाता है कि 'दर्शन' अंतर्दृष्टि नहीं है, भले ही यह उससे कितना ही संबद्ध क्यों न हो। संभवतः इस शब्द का प्रयोग बहुत सोच-विचार के बाद उस विचार-पद्धति के लिए किया गया है जिसकी प्राप्ति तो अंतर्दृष्टिजन्य अनुभव से होती है, पर जिसकी पुष्टि तार्किक प्रमाणों द्वारा। परम अद्वैतवाद की दर्शन-पद्धतियों में दार्शनिक ज्ञान विचार की शक्तिहीनता का भाव हमारे समक्ष रखकर आंतरिक अनुभव का मार्ग तैयार करता है। उदार अद्वैत पद्धतियों में, जहां वास्तविक सत्ता को एक पूर्ण ठोस रूप में माना गया है, दर्शन-शास्त्र अधिक-से-अधिक यथार्थ सत्ता की आदर्श पुनर्रचना का विचार हमें देता है। किंतु वह यथार्थ हमारी निरानंद श्रेणियों से कहीं ऊपर और इनके चारों ओर और इनसे अतीत है। परम अद्वैत में यह आंतरिक अनुभव है जो हमारे सामने वास्तविक यथार्थ सत्ता को उसके पूर्ण रूप में प्रकट करता है। ठोस अद्वैतवाद में, जहां ज्ञान का संपर्क भावना एवं मानसिक अनुराग के साथ होता है, यह आभ्यंतर दृष्टि है। काल्पनिक रचनाओं में अनुभवसिद्ध सत्यों जैसी निश्चितता नहीं रहती। फिर कोई भी मत अथवा तार्किक विचार उसी अवस्था में सत्य समझा जा सकता है, जब वह जीवन की कसौटी पर ठीक उतर सके।

दर्शन एक ऐसा शब्द है जो सुविधाजनक रूप में स्वयं में संदिग्ध है, क्योंकि परम अद्वैत की तार्किक पद्धति से रक्षा करने के लिए और अंतर्दृष्टि-संबंधी सत्य के बचाव के लिए भी, जिसके ऊपर यह आश्रित है, यह प्रयोग में आ सकता है। दार्शनिक विधि में दर्शन से तात्पर्य अंतर्ज्ञान का प्रमाण मांगना है और उसका तार्किक रूप में प्रचार करना है। दूसरी पद्धतियों में भी सत्य की तार्किक व्याख्या के लिए इसका उपयोग होता है, जो अनुप्राणित करने वाली अंतःप्रेरणा की सहायता से अथवा उसके बिना भी प्राप्त की जा सकती है। दर्शन का प्रयोग इस प्रकार मानव-मन द्वारा गृहीत यथार्थ सत्ता के सब मतों में होता है और यदि यथार्थ सत्ता एक है तो उसे प्रकाशित करने वाले सब मतों का परस्पर एक-दूसरे के साथ सहमत होना आवश्यक है। उन मतों में आकस्मिक अथवा नैमित्तिक घटनाओं का कोई स्थान नहीं है, बल्कि उन्हें यथार्थ सत्ता के विषय में प्राप्त भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों को प्रतिबिंबित करना चाहिए। उन अनेक मतों पर बहुत निकट से विचार करने पर, जो हमें भिन्न-भिन्न दृष्टि से यथार्थ सत्ता का चित्र लेने पर प्राप्त हों, हम यथार्थ सत्ता के पूर्ण रूप को तार्किक परिभाषाओं में जान सकते हैं। जब हमें अनुभव होता है कि वास्तविक सत्ता की धारणात्मक व्याख्या पर्याप्त नहीं है, तब हम अंतर्ज्ञान द्वारा यथार्थ सत्ता को पकड़ने का प्रयत्न करते हैं और वहां सब बौद्धिक विचार समाप्त हो जाते हैं। उस समय हमें परम अद्वैतवाद की विशुद्ध सत्ता का ज्ञान होता है जिसके द्वारा हम फिर तार्किक विचार द्वारा प्राप्त यथार्थ सत्ता की ओर वापस आते हैं, जिसकी हम भिन्न-भिन्न पद्धतियों में अक्षरशः व्याख्या पाते हैं। इस अंतिम विधि के लिए उपयुक्त दर्शन शब्द का तात्पर्य है—यथार्थ सत्ता की

वैज्ञानिक व्याख्या। यह एक शब्द है जो अपनी सुंदर अस्पष्टता के कारण दर्शनशास्त्र की समस्त जटिल प्रेरणा की व्याख्या के लिए उपयुक्त हो सकता है।

दर्शन एक ऐसा आध्यात्मिक ज्ञान है, जो आत्मा-रूपी इंद्रिय के समक्ष संपूर्ण रूप में प्रकट होता है। यह आत्मदृष्टि, जो वहीं संभव है जहां दर्शनशास्त्र का अस्तित्व है, एक सच्चे दार्शनिक की स्पष्ट पहचान है। इस प्रकार दर्शनशास्त्र के विषय में उच्चतम विजय उन्हीं व्यक्तियों को प्राप्त हो सकती है, जिन्होंने अपने अंदर आत्मा की पवित्रता को प्राप्त कर लिया है। इस पवित्रता का आधार है अनुभव की प्रगाढ़ स्वीकृति, जो केवल उसी अवस्था में साक्षात् हो सकती है जब मनुष्य को अंतर्निहित उस शक्ति की उपलब्धि हो, जिसके द्वारा वह न केवल जीवन का निरीक्षण ही, अपितु पूर्णतया ज्ञान प्राप्त कर सके। इस अंतस्तम निकास से ही दार्शनिक हमारे सामने जीवन के सत्य को प्रकट करता है—उस सत्य को, जो केवल बुद्धि द्वारा प्रकाश में नहीं आ सकता। इस प्रकार की दर्शनशक्ति लगभग ठीक उसी प्रकार स्वाभाविक रूप में उत्पन्न हो जाती है जैसे फूल से फल की उत्पत्ति होती है, और इसका उत्पत्ति स्थान वह रहस्यमय केंद्र है, जहां सब प्रकार के अनुभव का सामंजस्य होता है।

सत्य के अन्वेषक को अन्वेषण प्रारंभ करने से पूर्व कतिपय अनिवार्य साधनों की पूर्ति करना आवश्यक है। शंकर वेदांत सूत्रों के अपने भाष्य में पहले ही सूत्र के भाष्य में कहते हैं कि दर्शनशास्त्र के प्रत्येक विद्यार्थी के लिए चार साधन आवश्यक हैं। प्रथम साधन है नित्य एवं अनित्य के मध्य भेद का ज्ञान। इसका अर्थ यह नहीं है कि उसे इसका पूर्ण ज्ञान होना चाहिए, क्योंकि वह तो अंत में ही प्राप्त हो सकता है, किंतु केवल आध्यात्मिक प्रवृत्ति—जोकि दृश्यमान वस्तुओं को वास्तविक रूप में स्वीकार नहीं करती—अर्थात् अन्वेषक के अंदर प्रश्नात्मक जिज्ञासुभाव का होना आवश्यक है। उसके अंदर प्रत्येक विषय के भीतर प्रवेश करने की जिज्ञासा-वृत्ति होनी चाहिए, एक ऐसी चेतन कल्पनाशक्ति, जो प्रकटरूप में असंबद्ध सामग्री-समूह के अंदर से सत्य को ढूंढ़कर निकाल सके तथा ध्यान लगाने की आदत का होना भी आवश्यक है, जिससे कि वह अपने मन को विचलित न होने दे। दूसरा साधन है कर्मफल की प्राप्ति की इच्छा का दमन, चाहे वह फल इस जन्म में अथवा भविष्यजन्म में मिले। इस प्रतिबंध का आग्रह है कि सब प्रकार की छोटी-छोटी इच्छाओं एवं निजी प्रयोजन अथवा क्रियात्मक स्वार्थ का सर्वथा त्याग होना चाहिए। चिंतनशील मन के लिए कल्पना अथवा अन्वेषण स्वयं अपने-आपमें लक्ष्य हैं। बुद्धि का ठीक दिशा में उपयोग है वस्तुओं को—चाहे वे अच्छी हों या बुरी—ठीक-ठीक समझना। दार्शनिक एक प्रकार से प्रकृतितत्त्वज्ञ है, जिसे अपने मानसिक पक्षपात को दूर रखकर पदार्थों का, अच्छी या बुरी, दोनों प्रकार की दिशाओं में अनुसरण करते हुए, स्वाभाविक प्रकार से अनुगमन करना चाहिए। वह न अच्छे को बहुत बढ़ाकर और न बुरे की अत्यंत निंदा करते हुए व्याख्या करे। उसे जीवन से बाहर स्थित होकर निर्लेपभाव से सबका निरीक्षण करना चाहिए। इसलिए यह कहा गया है कि उसे वर्तमान अथवा भविष्य के साथ कोई अनुराग नहीं होना चाहिए। केवल उसी अवस्था में वह अपना सब-कुछ विशुद्ध चिंतन और न्याय परामर्श के लिए निछावर कर सकता है और सत्य के प्रति एक व्यक्तित्व-भावरहित सार्वभौम भाव का विकास कर सकता है। इस प्रकार की मनःस्थिति को प्राप्त करने के लिए उसे हृदय-परिवर्तन का अवसर देना चाहिए, जिस पर तीसरे साधन में बल दिया गया है, जहां दर्शनशास्त्र के विद्यार्थी के लिए आदेश है कि उसे शांति, आत्मसंयम, त्याग, धैर्य, मन की शांति और श्रद्धा का संचय करना चाहिए। केवल प्रशिक्षित मन ही, जो पूर्णरूप से शरीर पर नियंत्रण रख सकता है, जीवन-पर्यंत निरंतर खोज एवं ध्यान में मग्न रह सकता है—क्षणमात्र के लिए भी पदार्थ को दृष्टि से ओझल किए बिना और किसी सांसारिक प्रलोभन से विचलित हुए बिना। सत्य के अन्वेषक में इतना साहस अवश्य होना चाहिए कि वह अपने उच्चतम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सब-कुछ खोने के लिए उद्यत रहे। इसलिए उसे कठिन नियंत्रण में से गुजरने की, सुख को परे फेंकने एवं दुख और घृणा को सहने की भी आवश्यकता है। एक प्रकार का आत्मिक नियंत्रण, जिसमें दयारहित आत्मपरीक्षण भी सम्मिलित है, सत्यान्वेषी को मुक्ति के लक्ष्य तक पहुंचने के योग्य बनाएगा। चौथा साधन है मुमुक्षा। आध्यात्मिक प्रवृत्ति के मनुष्य के लिए, जिसने अपनी सब इच्छाओं का त्याग करके अपने मन को प्रशिक्षण दिया है, मात्र एक ही सर्वोपरि इच्छा रह जाती है, अर्थात् लक्ष्य की प्राप्ति और नित्य के समीप पहुंचने की इच्छा। भारतवासी इन दार्शनिकों के प्रति अत्यंत प्रतिष्ठा एवं श्रद्धा का भाव रखते हैं जो ज्ञान की शक्ति और बुद्धि के बल का गर्व करते हैं और उसकी पूजा करते हैं। ऐसे

व्यक्ति, जिन्हें दैवीय प्रेरणा होती है, जो सत्य के प्रति उदार एवं उत्कृष्ट प्रेरणा से विश्व ब्रह्मांड के रहस्य को जानने के लिए कठिन परिश्रम करते हैं और उसका वाणी द्वारा प्रकाश करते हैं और कठिन परिश्रम करते हुए इसी सत्यान्वेषण के लिए दिन-रात एक कर देते हैं, वे ही वास्तविक अर्थों में दार्शनिक हैं। वे मनुष्य-मात्र के हित के लिए ज्ञान-संपादन करते हैं और इसलिए मनुष्य-जाति सदा के लिए उनके प्रति कृतज्ञ रहती है।

भूतकाल के प्रति श्रद्धा हमारी एक अन्य राष्ट्रीय विशेषता है। परंपरा का निरंतर अनुसरण करते रहना एक विशिष्ट मनोवृत्ति है, अर्थात् युगों तक बराबर प्रचलित प्रथाओं के अंदर एक प्रकार की आग्रहपूर्ण भक्ति। जब-जब नई संस्कृतियों से सामना हुआ अथवा नवीन ज्ञान आगे आया, भारतीयों ने सामयिक प्रलोभन की अधीनता स्वीकार किए बिना अपने परंपरागत विश्वास को दृढ़तापूर्वक पकड़कर स्थिर रखा, किंतु जहां तक संभव हुआ नवीन से उतना अंश लेकर पुराने के अंदर मिला भी लिया। यह सनातन मिश्रित उदारता ही भारतीय संस्कृति व सभ्यता की सफलता का प्रधान रहस्य है। संसार की उन बड़ी-बड़ी समस्याओं में से, जो कालक्रम से बहुत पुरानी और वृद्ध हैं, यही एक जीवित बची है। मिस्र की सभ्यता की महत्ता का पता पुरातत्त्ववेत्ताओं की लेखबद्ध सूचनाओं एवं चित्र-लेखों के अध्ययन द्वारा ही पाया जा सकता है। बेबिलोनियन साम्राज्य अपनी आश्चर्यजनक वैज्ञानिक उपलब्धियों, सिंचाई व इंजीनियरी कला के साथ आज खंडहरों के अतिरिक्त और-कुछ नहीं रह गया है। महान रोमन संस्कृति अपनी राजनीतिक संस्थाओं और कानून व समानता के सिद्धांतों के साथ अधिकांश में आज भूतकाल का ही एक विषय रह गई है। भारतीय सभ्यता, जो अत्यन्त न्यूनांकन के अनुसार भी 4000 वर्ष पुरानी तो है ही, अपनी समस्त विशेषताओं को अक्षुण्ण रखते हुए जीवित बची है। इस देश की सभ्यता वेदों के काल तक पीछे जाने पर एक साथ ही पुरानी भी है और नई भी। जब-जब इतिहास की मांग हुई, इसने समय-समय पर अपने को नए सिरे से युवा बना लिया। जब-जब परिवर्तन होता है, उसका ज्ञान नवीन परिवर्तन के रूप में नहीं भासित होता। उसे अपना लिया जाता है और हर समय यह प्राचीन विचार-पद्धति को दिए गए नवीन रूप में स्वीकृत प्रतीत होता है। ऋग्वेद में हम देखेंगे कि किस प्रकार से आर्य-विजेताओं की धार्मिक चेतना ने इस भूमि के आदिवासियों के अंधविश्वासों का भी साथ-साथ ध्यान रखा। अथर्ववेद में हमें पता लगता है कि संदिग्ध जागतिक देवी-देवताओं को आकाश, सूर्य, अग्नि एवं वायु आदि देवताओं के साथ—जिनकी पूजा आर्य लोगों में गंगा से लेकर हेलेस्पोंट तक होती थी—जोड़ दिया गया है। उपनिषदों के विषय में कहा जाता है कि वैदिक सूक्तों में जो-कुछ पहले से पाया जाता था, ये उसी की पुनरावृत्ति अथवा साक्षात्कार-मात्र हैं। भगवद्गीता का दावा है कि उसमें उपनिषदों की शिक्षा का सारतत्त्व निहित है। महाकाव्यों में हमें उच्चतम आशय वाली धार्मिक भावनाओं का प्राचीन प्रकृतिपूजा के साथ संगम हुआ उपलब्ध होता है। मनुष्य के अंदर प्राचीनता के प्रति आदर एवं श्रद्धा की भावना के क़ारण ही उसे नवीन की सफलता प्राप्त हो सकती है।[2] पुराने भावों की रक्षा की जाती है, यद्यपि पुरानी आकृतियों की नहीं। भारत की इस रक्षणात्मक प्रवृत्ति के कारण ही भारत के विषय में औपचारिक कथन किया जाता है कि वह अचल है। मनुष्य का मन कभी निश्चल नहीं बैठता, यद्यपि वह भूतकाल के साथ एकदम संबंध तोड़ना भी स्वीकार नहीं कर सकता।

भूतकाल के प्रति इस प्रकार की निष्ठा ने भारतीय विचार में एक प्रकार के नियमित नैरंतर्य को उत्पन्न किया है, जहां कि प्रत्येक युग एक-दूसरे के साथ स्वाभाविक पवित्रता के बंधन से जुड़ा हुआ है। हिंदू संस्कृति युगों की देन है, जिसमें सैकड़ों पीढ़ियों द्वारा किए गए परिवर्तन समवेत हैं। इन परिवर्तनों में कुछ बहुत दीर्घ, विकृत और दुखमय हैं, जबकि अन्य अल्पकालीन, शीघ्रगामी एवं सुखकर हैं, जिनमें प्रत्येक ने इन प्राचीन संपन्न परंपराओं में—जो आज भी जीवित हैं, यद्यपि ये अपने अंदर मृतप्राय भूतकाल के चिह्नों को भी अभी तक संजोए हुए हैं—कुछ-न-कुछ उत्तम गुणयुक्त सामग्री जोड़ दी है। भारतीय दर्शन की जीवन-यात्रा की तुलना एक ऐसी जलधारा के प्रवाह के साथ की जाती है जो अपने आदि उद्गम से निकलकर उत्तरी पर्वतों की चोटियों से आनंदपूर्वक लुढ़कती हुई छायादार घाटियों और मैदानों में से वेग के साथ आगे बढ़ती हुई, अन्य छोटी-छोटी धाराओं को अपनी निरंकुश धारा में समेटती हुई अंत में एक महान रूप और गंभीर शक्ति धारण कर उन मैदानों व मानव-समूहों के अंदर प्रवाहित होती है जिनके भाग्यों का वह निर्णय करती है एवं हजारों जहाजों का भार अपनी छाती पर वहन करती है। कौन जानता है कि क्या और कब यह शक्तिशाली महान जलधारा, जो इस समय निरंतर तुमुल कोलाहल एवं

प्रसन्नता के साथ प्रवाहित हो रही है, समुद्र में जा गिरेगी, जो समस्त नदियों का जनक है।

ऐसे भारतीय विचारकों का अभाव नहीं है जो समस्त भारतीय दर्शन को निरंतर दैवी प्रेरणा की एक ही पद्धति के रूप में मानते हैं। उनका विश्वास है कि प्रत्येक सभ्यता किसी दैवी विचार का संपादन करती है, जो उसके लिए स्वाभाविक है।[3] प्रत्येक मानवीय जाति में उसके अंतर्निहित एक ऐसी कर्म-मीमांसा रहती है जो उसके जीवन का निर्माण करती है और उसे पूर्ण विकास तक ले जाती है। भारत में समय-समय पर जिन भिन्न मतों का प्रचार हुआ, वे सब उसी एक मुख्य वृक्ष की शाखाएं मात्र हैं। सत्य की खोज के मुख्य मार्ग के साथ छोटी-छोटी पगडंडियों और अंधी गलियों का भी सामंजस्य किया जा सकता है। एक सुपरिचित विधि, जिसमें छः पुराने दर्शनशास्त्रों का समन्वय हुआ है, इस प्रकार प्रकट की जा सकती है कि जैसे एक मां अपने बच्चे को चांद की ओर संकेत करती हुई बतलाती है कि वह देखो वृक्ष के ऊपर एक चमकीला गोलाकार चक्कर है और यह बच्चे को बिलकुल आसानी से समझ में आ सकता है—पृथ्वी और चंद्रमा के बीच की दूरी का वर्णन किए बिना, जिससे बच्चा चकरा सकता था; इसी प्रकार भिन्न-भिन्न मत मानवीय विचार-शक्ति की विभिन्न दुर्बलताओं के कारण प्रकट हुए हैं। 'प्रबोधचंद्रोदय' नामक एक दार्शनिक नाटक कहता है कि हिंदू विचारधारा के छः प्रमुख दर्शन परस्पर एक-दूसरे से अलग नहीं हैं, किंतु विविध प्रकार के दृष्टिकोणों से एक ही स्वयंभू ईश्वर की स्थापना करते हैं। वे सब मिलकर तितर-बितर हुई किरणों का केंद्रस्थल बनाते हैं, जिससे भिन्न-भिन्न पहलुओं वाली मनुष्य-जाति प्रकाश के पुंज सूर्य से प्रकाश-रूपी ज्ञान प्राप्त करती है। माधवाचार्य-निर्मित सर्वदर्शन-संग्रह (सन् 1380) ने सोलह विविध दार्शनिक पद्धतियों का वर्णन किया है, जिनसे क्रमानुसार आगे बढ़ते हुए अद्वैत वेदांत तक पहुंचा जा सकता है। हेगल की तरह भारतीय दर्शन को यह एक उन्नतिशाली प्रयत्न के रूप में देखता है, जो हमें एक पूर्ण संधिबद्ध संसार का विचार देता है। उत्तरोत्तर इन पद्धतियों में धीरे-धीरे आंशिक रूप में सत्य प्रकट होता जाता है और दार्शनिक श्रेणियों का जब अंत हो जाता है तो सत्य प्रकाश में आ जाता है। अद्वैत वेदांत में बहुत-से प्रकाश एक केंद्र-बिंदु पर आकर एकत्र हो गए हैं। सोलहवीं शताब्दी के अध्यात्मवादी एवं विचारक विज्ञानभिक्षु का मत है कि सब दर्शन प्रामाणिक हैं।[4] और उनके समन्वय की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं कि क्रियात्मक और आध्यात्मिक तथ्य में भेद है, और इस प्रकार वे सांख्य को परम सत्य की व्याख्या करने वाला बताते हैं। मधुसूदन सरस्वती अपने 'प्रस्थानभेद' में लिखते हैं कि 'सब मुनियों का अंतिम लक्ष्य, जो इन भिन्न-भिन्न दर्शनों के कर्ता हैं, माया के सिद्धांत का समर्थन करना है और उनके दर्शन का मूल आधार एकमात्र सर्वोपरि परम ब्रह्म की सत्ता की स्थापना करना है, जो अन्यतम सारतत्त्व है, क्योंकि ये मुनि, जो सर्वज्ञ थे, भूल नहीं कर सकते थे। किंतु चूंकि उन्होंने अनुभव किया कि मनुष्य, जो बाह्य पदार्थों की ज्ञानप्राप्ति के आदि हैं, एकसाथ ही उच्चतम सत्य के अंदर प्रवेश करके उसे ग्रहण नहीं कर सकते, इसलिए उन्होंने मनुष्यों के हित के लिए नाना प्रकार के सिद्धांतों की कल्पना की जिससे कि वे नास्तिकता के गड्ढे में न गिर सकें। इस प्रकार से मुनियों के उद्देश्य को, जो उनके मन में था, गलत रूप में समझकर और यहां तक मानने पर उतारू होकर कि मुनियों ने वेद-विरुद्ध मतों का भी प्रचार किया, इन भिन्न-भिन्न संप्रदायों के विशेष-विशेष सिद्धांतों को मनुष्यों ने एक-दूसरे से उत्तम बताकर नाना पद्धतियों का पक्ष ग्रहण कर लिया।'[5] अनेक दार्शनिक पद्धतियों के इस प्रकार के समन्वय का प्रयत्न[6] प्रायः सभी समीक्षकों एवं टीकाकारों ने किया है। भेद केवल इतना ही है कि वे किसे सत्य समझते हैं। न्याय के समर्थक उदयन की तरह न्याय को और ईश्वरवादी रामानुज की तरह ईश्वरवाद को ही सत्य मानते हैं। यह सोचना भारतीय संस्कृति की भावना के अनुकूल ही होगा कि विचार की अनेक और भिन्न-भिन्न धाराएं, जो इस भूमि में बहती हैं, अपना जल एक ही सामान्य नदी में डालेंगी, जिसका बहाव अन्यत्र कहीं न होकर ईश्वर के नगर की ओर ही होगा।

प्रारंभ से ही भारतीयों ने यह अनुभव किया था कि सत्य अनेकपक्षीय है और विविध मत सत्य के भिन्न-भिन्न पहलुओं को लेकर प्रकट हुए हैं क्योंकि विशुद्ध सत्य का प्रतिपादन कोई एक मत नहीं कर सकता। इसीलिए उन्हें अन्य मतों के प्रति सहनशील होकर उन्हें भी स्वीकार करना पड़ा। उन्होंने निर्भयता के साथ ऐसे विषम सिद्धांतों को भी उस सीमा तक स्वीकृति प्रदान की, जहां तक उन सिद्धांतों को तर्क का समर्थन प्राप्त हो सकता था। जहां तक संभव हो सका, उन्होंने लेशमात्र भी प्राचीन परंपराओं के शीर्षकों को नष्ट नहीं होने दिया और उन सबको उचित स्थान व महत्त्व प्रदान किया। निःसंदेह इस प्रकार की मत-संबंधी

उदारता में कई प्रकार के संकटों का समावेश रहता है। प्रायः इस उदारता के कारण भारतीय विचारकों को अनिश्चितता, शिथिलताजन्य स्वीकृति और सस्ते सारसंग्रहवाद का शिकार होना पड़ा है। ❖

संदर्भ सूची

1. तुलना कीजिए, ब्रैडले, जो कहता है कि हम वास्तविक सत्ता को एक प्रकार की भावना द्वारा प्राप्त कर सकते हैं, और मैक्टैगार्ट, जो प्रेम (भक्ति) को परम सत्ता का स्वरूप मानता है।
2. तुलना कीजिए, 'किसी भी नए मत के लिए अपने को प्राचीन कहकर पेश करने की एक साधारण प्रवृत्ति है। सुधार के प्रचार ने बाइबिल के प्रति लौटने का दावा किया, इंग्लैंड में इवैंजलिकल आंदोलन ने ईसामसीह द्वारा उपदिष्ट सिद्धांत होने का और हाई चर्च आंदोलन ने प्राचीन चर्च के प्रति वापसी का दावा किया। फ्रांस की राज्यक्रांति में भी एक बहुत बड़े भाग ने अपने आदर्श के लिए रोमन लोकतंत्रात्मक सदाचार अथवा प्राकृतिक मानव की सादगी के प्रति वापसी का ही दावा किया, यद्यपि उक्त राज्यक्रांति प्राचीनता के प्रति सबसे बड़ा विद्रोह था।' (गिलबर्ट मरे : 'फोर स्टेजेज आफ ग्रीक रिलिजन,' पृष्ठ 58)।
3. ग्रीक विद्वान इस विशेष गुण को प्रत्येक जाति की 'प्रकृति' कहते हैं जबकि भारतीय विद्वान इसी को उक्त जाति के 'धर्म' का नाम देते हैं।
4. सर्वागमप्रामाण्य।
5. देखें, म्योर, 'ओरिजिनल संस्कृत टेक्स्ट्स', 4:1 और 2।
6. सर्वदर्शनसामरस्य। ❖❖

मनुष्य के स्वभाव में अहिंसा और हिंसा दोनों हैं। मानव इतिहास की शुरुआत से ही मनुष्य में इस विवेक की नीवं पड़ चुकी थी कि यह मारना है और यह नहीं मारना है। प्राचीन काल में यदि मनुष्य पशुओं का शिकार करते थे, तो उन्हें पालते भी थे और उनसे प्रेम भी करते थे। सबसे उल्लेखनीय बात यह है कि वे अपने को पशु से भिन्न समझने लगे थे। वे अपने लिए उच्च आदर्शों और जीवन शैली की खोज करने लगे थे, हालांकि उस युग में विज्ञान और टेक्नोलॉजी अपनी सबसे पिछड़ी अवस्था में थे। बौद्धों के 'धम्मपद' में एक उक्ति है, 'लोभ से बड़ी दूसरी आग नहीं है, घृणा से बड़ा दूसरा अपराध नहीं, शरीर से बड़ा कोई दूसरा दुख नहीं है और परम शांति से बड़ा दूसरा आनंद नहीं है (सुख वग्गो, 6)। 'महाभारत' जैसे ग्रंथ में भीष्म युधिष्ठिर से धर्म की व्याख्या करते हुए कहते हैं, 'यस्याद हिंसा संयुक्तः स धर्म इति निश्चयः', अर्थात् हिंसा के पथ पर जाते ही धर्म का अंत निश्चित समझो। यह अलग बात है कि वह खुद हिंसा के पथ पर चलने के बाद इस सच तक पहुंचे। यह धर्मशास्त्र का नहीं, उनके अनुभव का सच था। जिस हिंदू धर्म में तमाम देवी-देवता एक से बढ़ कर एक भयंकर अस्त्र-शस्त्र से लैश हों, उसमें अहिंसा को एक जीवन संस्कार के रूप में विकसित होने में अभी भी काफी वक्त लगेगा। यह धतूरे के खेत में धान रोपना है। विरोधाभास लगते हुए भी क्या यह सच नहीं है कि दुनिया की तमाम सभ्यताएं हिंसा के बीच से पनपीं, कितने ही धर्म खून की नदी से बाहर आए और कितने ही जन आंदोलनों में यह एक मुख्य राजनैतिक हथियार था। इन हिंसाओं को उच्चतर स्वतंत्रता की अभिलाषी मानवता ने उत्साहपूर्वक गले लगाया। ऐसा इसलिए हुआ कि लोगों ने कई बार सोचा कि न्याय हमारी जिंदगी से अधिक बहुमूल्य है। सत्य और न्याय की आग में तपी हिंसा झूठ और अन्याय पर आधारित अहिंसा से हमेशा अच्छी मानी गई। यदि औरत पर बलात्कार हो रहा हो तथा उसे बचाने के लिए हिंसा जरूरी हो, तो ऐसी हिंसा का महात्मा गांधी ने भी समर्थन किया। उन्होंने जम्मू और कश्मीर में सेना की लड़ाई का समर्थन किया तथा ऐसे मौकों पर अहिंसा को कायरता माना। एक बार वर्धा में उन्होंने एक बीमार बछड़े को मारने के लिए थाने से पिस्तोल मंगाया। ये उदाहरण महज इसलिए दिए जा रहे हैं कि अहिंसा की रूढ़ियों को समझने के बाद हम हिंसा की रूढ़ियों को भी समझने के लिए तैयार हो सकें।

—शंभुनाथ

अनुभूति

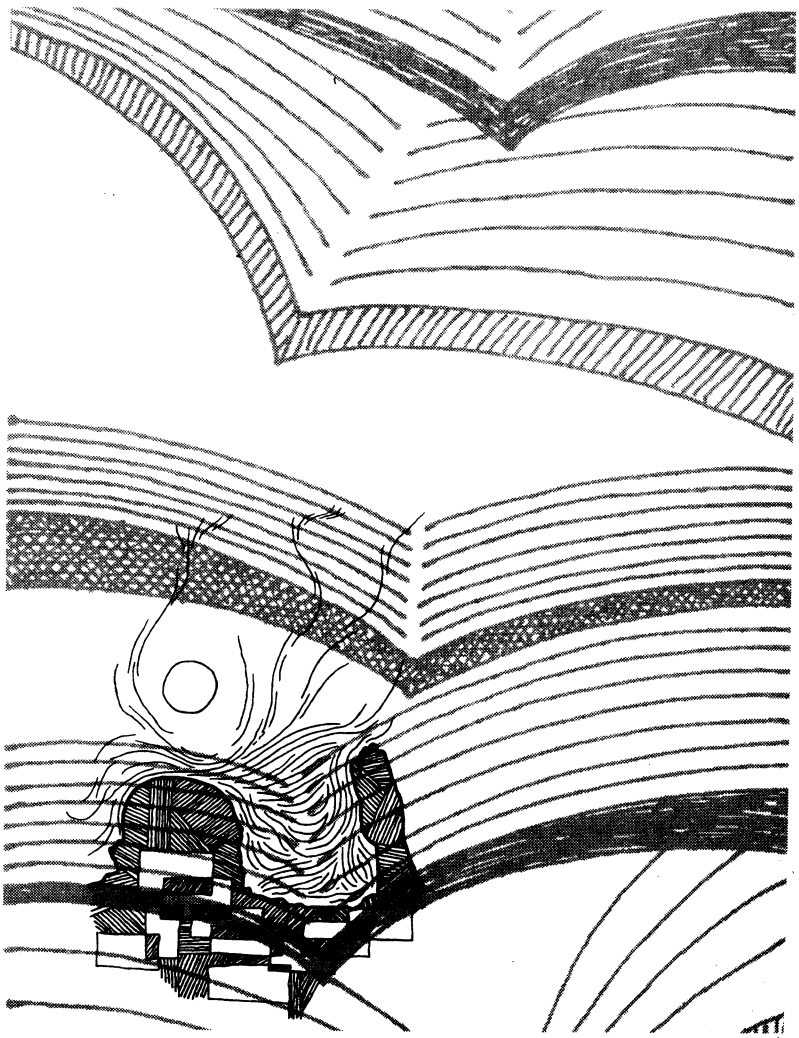

अविराम चेष्टा एवं चिर-विरोधी शक्तियों के साथ जूझ कर, मन की शक्ति को निरंतर संवर्द्धित करके देश व जगत का कल्याण कर सकूंगा—निश्चेष्ट होकर नहीं। जो दुर्बल जीवन-संग्राम में पीठ दिखाता है, वह कापुरुष है, वह दान करने का रंचमात्र भी अधिकारी नहीं है। उसके पास दान करने को है ही क्या? जो वीर की तरह कर्म-क्षेत्र में जूझ कर विजयी हुआ है, केवल वही अपनी जीत का अक्षय-धन लुटा सकता है, वही अपने अकलुषित दान से जगत को समृद्ध कर सकता है। भारत का गौरव और जगत का कल्याण, यही हमारी चिर-साधना हो, चिरंतन आराधना हो।

—सर जगदीशचंद्र बसु

मूलतः आचार्य तुलसी धर्माचार्य थे, किंतु ऐसा होते हुए भी उनका विश्वास धर्म की बंधी-बंधाई परंपराओं में नहीं था। उनका मानना था कि धर्म एक शाश्वत तत्त्व है, परंपराओं से वह मुक्त है। परंपरित मूल्य-मानकों को तोड़ने का आग्रह उनमें कभी नहीं रहा, किंतु धर्म को वे रूढ़िमुक्त और जीवन-व्यवहार में साकार बनाने के पक्षधर थे। इस उद्देश्य से ही उन्होंने क्रांति की बात कही।

आचार्य तुलसी की क्रांति

❑ समणी हिमप्रज्ञा ❑

भारत में आचार एवं नीतिनिष्ठ अनेक महापुरुष हुए हैं, जिनकी सुधारक अंतर्दृष्टि और आध्यात्मिक महत्ता रही है। इन महापुरुषों ने भारतीय सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक बोध को प्रभावित किया है। आचार्य तुलसी भी इनमें से एक हैं। वे यह इसलिए कर सके, क्योंकि वे अंतर्दृष्टि एवं प्रज्ञा से युक्त थे।

समाज में रूढ़ियां, अंधविश्वास एवं संकीर्णता के साम्राज्य का प्रभाव जब अत्यधिक बढ़ जाता है, तो उस समय अपने क्रांत स्वर के साथ कोई महापुरुष उदित होता है। अपने समय में समाज का विरोध झेलकर भी वह समाज में नव-क्रांति का शंखनाद फूंकता है। आचार्य तुलसी ऐसे ही क्रांतद्रष्टा महापुरुष थे, जिन्होंने धर्म और समाज के क्षेत्र में फैली विसंगतियों के विरोध में आवाज उठाई।

कार्तिक शुक्ला द्वितीया आचार्यश्री तुलसी का जन्म-दिवस है। देशभर में और देश से बाहर भी उनका जन्मदिन 'अणुव्रत-दिवस' के रूप में मनाया जाता है। भारत की आजादी के साथ ही नैतिक-आध्यात्मिक उत्थान का एक सपना उन्होंने देखा और मार्च, 1949 में 'अणुव्रत आंदोलन' का सूत्रपात किया, देश के नव-निर्माण के लिए नैतिक-आध्यात्मिक सूत्र दिए। उन्हीं सूत्रों का इस आलेख के माध्यम से स्मरण—उनके पावन जन्मोत्सव पर।

आचार्य तुलसी के क्रांतिकारी व्यक्तित्व का अंकन करते हुए डॉ. राममनोहर त्रिपाठी लिखते हैं—'क्रांति की बात करना आसान है, पर क्रांति घटित करना बहुत कठिन है। इसके लिए समग्रता से प्रयत्न करने की अपेक्षा रहती है। आचार्य तुलसी जैसे साधनाशील मानव ही ऐसा वातावरण निर्मित कर सकते हैं।'

आचार्य तुलसी ने स्वयं लिखा है—परंपरा का व्यामोह रखने वाले और विरोध की आग से डरने वाले व्यक्ति कभी भी कोई महत्त्वपूर्ण कार्य संपन्न नहीं कर सकते। अपने प्रवचनों एवं निबंधों में वे स्पष्ट कहते थे—'मैं रूढ़ियों का विरोधी हूं, न कि परंपरा का। समाज में उसी परंपरा को जीवित रहने का अधिकार है, जो व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्र की धारा से जुड़कर उसे गतिशील बनाने में निमित्त बनती है, पर मैं इतना रूढ़ भी नहीं हूं कि अर्थहीन परंपरा को प्रश्रय देता रहूं। उन्होंने सदैव युग के साथ आवश्यकतानुसार स्वयं को बदला तथा दूसरों को भी बदलने की प्रेरणा दी। आचार्य तुलसी का चिंतन था—विकास के लिए परिवर्तन आवश्यक है। जिस समाज, देश, राष्ट्र में परिवर्तन नहीं होता, वह विकास के शिखर को छू नहीं सकता।

इसलिए समय-समय पर सामाजिक जीवन में परिवर्तन करना जरूरी होता है। समाज में रूढ़िवादिता के कारण, नेतृत्वकर्ता के स्वार्थ के कारण अथवा समाज की दासता के कारण जरूरी परिवर्तन जब नहीं होता, तब समाज में जड़ता आती है, समाज वृद्ध और विकृत बनता है। यह स्थिति जब असह्य हो जाती है तब समाज में क्रांति घटित होती है।

डॉ. राममनोहर लोहिया ने इसी आधार पर सप्त क्रांति

की परिकल्पना की थी। उनकी क्रांतिकारी योजना के सात सूत्र हैं—

(1) जातिगत विषमता का अंत,

(2) विदेशी दासता का अवसान,

(3) स्त्री-पुरुष के मध्य समानता की स्थापना,

(4) रंग पर आधारित विषमता की समाप्ति,

(5) संपत्ति पर व्यक्तिगत स्वामित्व की समाप्ति,

(6) अन्याय का प्रतिकार,

(7) हिंसामूलक प्रवृत्तियों का विरोध।

जहां साधारण परिवर्तन से काम हो जाता है, वहां क्रांति की अपेक्षा नहीं रहती। जहां परिवर्तन पर्याप्त नहीं होता, वहां स्थिति को रूपांतरित करने के लिए क्रांति की जाती है। अरस्तू के अनुसार समाज के आधारभूत मूल्यों में परिवर्तन लाना क्रांति है। आर्थर बौर के अनुसार सामाजिक संरचना में आमूलचूल परिवर्तन का प्रयत्न किया जाता है—वह क्रांति है। आचार्य तुलसी भी आमूलचूल परिवर्तन को क्रांति मानते थे।

भारत 15 अगस्त, 1947 को स्वतंत्र हुआ। गुलामी का अंत हुआ और सोचा गया कि महात्मा गांधी के स्वप्नों के स्वराज का उदय होगा, लेकिन दुर्भाग्य कि स्वतंत्रता के अभ्युदय के साथ ही हिंसा, सांप्रदायिक तनाव, असामाजिक वातावरण और अनैतिकता का माहौल बनने लगा। इन स्थितियों के बढ़ते हुए दौर को देखकर आचार्य तुलसी ने चिंतन किया। वह समय चुप बैठने का था भी नहीं। सदियों से प्रताड़ित जड़वादी समाज को बदलने की जरूरत महसूस की जाने लगी। आचार्य तुलसी ने इसके लिए कदम बढ़ाया और एक संकल्प प्रकट हुआ। उन्होंने कहा—परंपरा और परिपाटियों का परिचालन ही धर्म नहीं है। धर्म एक जीवंत शक्ति है। धर्म के मूलभूत आदर्श और नैतिक गुणों को भुला देना ठीक नहीं। धर्म के नाम पर होने वाले शोषण और दंगे-फसादों से धर्म की छवि कभी सुरक्षित नहीं रह सकती। आचार्य तुलसी की इसी सोच ने 'अणुव्रत आंदोलन' को जन्म दिया।

मूलतः आचार्य तुलसी धर्माचार्य थे, किंतु ऐसा होते हुए भी उनका विश्वास धर्म की बंधी-बंधाई परंपराओं में नहीं था। उनका मानना था कि धर्म एक शाश्वत तत्त्व है, परंपराओं से वह मुक्त है। परंपरित मूल्य-मानकों को तोड़ने का आग्रह उनमें कभी नहीं रहा, किंतु धर्म को वे रूढ़िमुक्त और जीवन-व्यवहार में साकार बनाने के पक्षधर थे। इस उद्देश्य से ही उन्होंने क्रांति की बात कही।

क्रांति के स्वर को क्रियान्वित करने के लिए उन्होंने पांच सूत्र दिए। ये सूत्र हैं—

(1) बौद्धिकता—जो धर्म बुद्धिगम्य नहीं होता, उस पर प्रबुद्ध वर्ग की आस्था नहीं हो सकती।

(2) प्रायोगिकता—धर्म के सिद्धांतों का जीवन-व्यवहार में प्रयोग न हो तो वह अकिंचित्कर बन जाता है।

(3) समाधायकता—धर्म में जीवन की समस्याओं का समाधान देने की क्षमता होनी चाहिए। जो धर्म समस्या को समाहित नहीं कर सकता, उस धर्म से लोक-जीवन को क्या लाभ हो सकता है?

(4) प्रधानता वर्तमान को—परलोक को सुधारने के लिए धर्माचरण करने की बात एक प्रकार का प्रलोभन है। व्यक्ति को स्वर्ग के प्रलोभन और नरक के भय से मुक्त कर वर्तमान के हर क्षण को स्वस्थ और आनंदमय बनाने वाला धर्म ही पारलौकिक आस्था को टिकाकर रख सकता है।

(5) धर्म सद्भावना—संप्रदाय एक व्यवस्था है, जबकि धर्म जीवन का तत्त्व है। धर्म संप्रदाय से बड़ा है, अतः धर्म पर सांप्रदायिकता का दबाव नहीं होना चाहिए। धर्म जोड़ता है, तोड़ने का काम धर्म का नहीं है। धर्म-संप्रदायों के बीच सद्भावनापूर्ण वातावरण निर्मित होने से ही धर्म को निखरने का अवसर मिलता है। इसीलिए अणुव्रत क्रांति से पांच बातें फलित होना संभव है।

(1) धर्म को अंधविश्वास की कारा से मुक्त कर प्रबुद्ध लोक-चेतना के साथ जोड़ना।

(2) रूढ़ उपासना से जुड़े धर्म को प्रायोगिक रूप देना।

(3) परलोक सुधारने के प्रलोभन से ऊपर उठकर धर्म को वर्तमान जीवन की शुद्धि में सहायक बनाना।

(4) युगीन समस्याओं के संदर्भ में धर्म को एक समाधान के रूप में प्रस्तुत करना।

(5) धर्म के नाम पर होने वाली लड़ाइयों को आपसी वार्तालाप के द्वारा निपटाकर सब धर्मों के प्रति सद्भावना का वातावरण निर्मित करना।

धर्म के ऐसे स्वरूप और ऐसी व्याख्या आस्तिकों के साथ-साथ नास्तिकों को भी मान्य हुई। सतारा (महाराष्ट्र) में हजारों व्यक्तियों की उपस्थिति में धर्म की इस व्याख्या

से सभा में सबसे पीछे खड़ा व्यक्ति प्रवचन समाप्ति के साथ ही दौड़कर आगे आया, आते ही उसने माइक हाथ में ले लिया। वह बोला—धर्म-कर्म में मेरी कोई आस्था नहीं है, मैंने आज तक किसी धर्मगुरु के पैर नहीं छुए। किंतु आज आचार्यश्री तुलसी ने अपने प्रवचन में धर्म की जो व्याख्या की है, उसे सुनकर मैं इनसे प्रभावित हुआ। यदि यही धर्म है तो मैं अपने-आपको धार्मिक मानता हूं।

चूंकि धर्म का सीधा संबंध आचरण के साथ है, इसलिए आचरण की श्रेष्ठता के कुछ मानक अणुव्रत क्रांति ने निर्धारित किए—

(1) क्रोध, अहंकार, माया और लोभ की अल्पता।

(2) कथनी-करनी की समानता।

(3) अहिंसा, करुणा, समता और समानता का मनोभाव।

(4) मानवीय एकता में विश्वास।

(5) अनाग्रह, सहिष्णुता और सरलता का विकास।

(6) व्यवसाय और व्यवहार में प्रामाणिकता।

(7) अपने-आपमें रहने का अभ्यास।

आचार्य तुलसी की अणुव्रत-क्रांति ने विचार और आचार—दोनों क्षेत्रों में क्रांति के बीज बोए। जहां-जहां वे बीज अंकुरित हुए हैं, अणुव्रत के प्रति लोगों का दृष्टिकोण बदला है। अपने-आपको नास्तिक मानने वाले लोग भी अणुव्रत की नीति और आचार-संहिता से प्रभावित हुए हैं। अणुव्रत ने युग की चुनौतियों का सामना कर समाज में चरित्र की प्रतिष्ठा की है। अणुव्रत की आस्था व्यक्ति निर्माण में है। व्यक्ति जितना नैतिक और आचारनिष्ठ होगा, समाज उतना ही उन्नत, संस्कृत और समृद्ध होगा।

आचार के क्षेत्र में अणुव्रत ने जो कार्य किए वे उल्लेखनीय हैं। इन आंकड़ों का सर्वांगीणता के साथ प्रस्तुतीकरण हो तो एक नई घटना सामने आ सकती है। अणुव्रत-क्रांति का फलित था—

(1) मानवीय एकता में विश्वास

(2) समाज में सही मानदंडों का विकास।

(3) राष्ट्रीय चरित्र का विकास।

(4) सह-अस्तित्व की भावना का विकास।

(5) धर्म के क्रांतिकारी स्वरूप का विकास।

इस प्रकार आचार्य तुलसी के क्रांतिकारी व्यक्तित्व ने न केवल आध्यात्मिक क्षेत्र में, अपितु सामाजिक क्षेत्र में पनप रही विसंगतियों को भी जड़-मूल से उखाड़ने का भरसक प्रयास किया। ❖

कृपया ध्यान दें

जैन भारती के लिए रचनाएं भेजते समय कृपया निम्नोक्त बिंदुओं का अवश्य ध्यान रखें—

- आपकी रचना कम से कम 1500-2000 शब्दों से लेकर 2500-3000 शब्दों के मध्य हो। कुछेक आलेख जैन भारती के एक पृष्ठ से भी कम आकार के होते हैं, जो हमारे लिए अपर्याप्त हैं। जैन भारती के लिए ऐसे आलेख काम में लेना संभव नहीं। अतः इतने छोटे आलेख न भेजें।
- रचनाएं 'फुल स्केप' कागज पर एक तरफ हाथ से लिखी या टाइप की हुई हों। पूरा हाशिया अवश्य छोड़ें। दो पंक्तियों के बीच भी पर्याप्त स्थान होना जरूरी है।
- फोटोकॉपी न भेजें अथवा सुस्पष्ट हो तो ही भेजें।

कृपया उपरोक्त हिदायतों की ओर पूरा ध्यान देकर हमें सहयोग करें।

आज मानव आत्म-ज्ञान के धागे को छोड़ अर्थ का धागा अपने कर में कस कर थामे हुए है। समाज व्यवस्था का आधार आज धन हो गया है। अर्थ के आधार पर ही आज अर्हताओं का मूल्यांकन होता है। अर्थ की अंधी दौड़ में आज का युवा-वर्ग पूर्णरूप से पाश्चात्य रंग से रंजित है। उपभोक्तावादी अप-संस्कृति से प्रभावित जन-मानस की जीवन-शैली अस्त-व्यस्त हो रही है। परिवार, समाज और देश के पारस्परिक संबंधों में विघटन का विष घुल रहा है। मानव अशांति, तनाव, घुटन की उसांसें ले रहा है।

आत्म-ज्ञान की अलख जगे

❑ साध्वी निर्मलयशा ❑

कविवर रवींद्रनाथ टैगोर जापान गए हुए थे। वहां वे प्रतिदिन प्रवचन करते। इन प्रवचनों में संभ्रांत परिवार का एक वृद्ध सीधे-सादे कपड़ों में रोज जल्दी आकर गुलाब का हार अर्पण करके टैगोर जी के सामने बैठ जाता। उस वृद्ध व्यक्ति की कुछ विशिष्टताएं रवींद्रनाथ टैगोर के ध्यान में आईं। वे देखते थे कि यह वृद्ध रोज मुझसे पहले ही सत्संग भवन में आ जाता है और मुझे गुलाब का हार अर्पण करता है। इसके चेहरे पर सरलता व सादगी छाई रहती है। यह वृद्ध रोज मनोयोग पूर्वक एकाग्रचित्त हो सत्संग श्रवण करके मेरे जाने के बाद ही अंत में जाता है। बड़ा सात्त्विक लगता है। दस दिन तक लगातार वह वृद्ध नियम से सत्संग प्रवचनों में आता रहा। जब सत्संग की पूर्णाहुति होती है तो सब अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार संतों के चरणों में कुछ-न-कुछ दक्षिणा रखते हैं। ऐसे ही टैगोर जी के चरणों में किसी ने सोना-चांदी, तो किसी ने जापानी मुद्रा, मेवा-मिठाई, वस्त्र आदि रखे। वह वृद्ध भी गुलाब के फूलों का हार लेकर दर्शन करने आया। उसकी आंखें बता रही थी कि वह कुछ कहना चाहता है। टैगोर जी ने अपनी आंखों से उस वृद्ध पर करुणा बरसाते हुए पूछा—'कहो, क्या कहना चाहते हो।'

'भगवन! दस दिन तक आपने जो सत्संगामृत का पान करवाया उसके लिए आपका हृदय से आभारी हूं। एक बार आप मेरी कुटिया को पवित्र करने पधारें, ऐसी मेरी आपसे प्रार्थना है।' इतना कहते-कहते वृद्ध का गला भर आया, नयनों से निर्झर झरने लगा। रवींद्रनाथजी उसकी प्रेम-भरी प्रार्थना को अस्वीकार नहीं कर पाए और बोले 'मैं आऊंगा अवश्य, लेकिन एक शर्त कि तुम पैसे खर्च नहीं करोगे।'

वृद्ध अत्यंत प्रसन्न हुआ और रवींद्रनाथजी द्वारा निश्चित दिन व समय पर उनको लेने के लिए गुलाब के फूलों से सुसज्जित रोल्सरोयस गाड़ी लेकर पहुंच गया। रवींद्रनाथ टैगोर को लगा, अरे इस बेचारे गरीब ने इतना सारा खर्च किया। टैगोरजी ने अपने सेवक से कहा—इसके बच्चों को चुपके से दो सौ येन (जापानी मुद्रा) दे देना। हवा से बातें करती गाड़ी पहाड़ी पर स्थित एक विशाल भवन के पास जा पहुंची। दौड़ते हुए द्वारपालों ने आकर रवींद्रनाथ टैगोर की गाड़ी का दरवाजा खोला, उन्हें सलामी दी और दूसरी ओर से नौजवान युवकों ने प्रणाम कर उनका स्वागत किया। भवन में पहुंचकर देखा, एक भव्य हाल में सोने की कुर्सी पर रेशम का आसन बिछा हुआ था। उसके सामने रखी टेबल पर पचास प्लेटें थी जिनमें कुछ हीरे जड़ित, कुछ सोने, कुछ चांदी की, तो कुछ प्लेटिनम की थी—जो भिन्न-भिन्न सूखे मेवों, ताजे फलों एवं विभिन्न मिठाइयों से सजी थी। वृद्ध ने टैगोर जी से आसन ग्रहण करने की प्रार्थना की। आश्चर्य में डूबे हुए टैगोरजी ने कहा—'अरे भाई! तुम मुझे कहां ले आए? तुम तो मुझे अपने घर ले जाने वाले थे।' वृद्ध बोला—'प्रभु! यह घर अपना ही है। ये मेरे चार पुत्र एवं पुत्रवधुएं हैं। लंबा-चौड़ा व्यवसाय है, जिसे ये लड़के ही संभालते हैं।' वृद्ध के घर की आर्थिक संपन्नता देखकर टैगोरजी बोले—'इतने सुखी संपन्न होने के बावजूद भी तुम्हारे रहने का रंग-ढंग, तुम्हारे सीधे-सादे कपड़े, मेरे

सामने तुम्हारा झुकना, सत्संग में आना—ये सब कैसे...?' वृद्ध ने कहा—'प्रभु जिस संपत्ति को पाकर आत्म-शांति या आत्म-सुख न मिलता हो उसके लिए गर्व करना मूर्खों का काम है। आपके पास जो आत्म-धन का खजाना है, वही शाश्वत शांति और सुख प्रदान करने वाला है। मेरा धन समय गुजरने पर चला जाएगा। जबकि आपका आत्मधन शरीर के छूटने के बाद भी साथ जाने वाला है। वस्तुतः आप धनवान हैं, मैं कंगाल हूं। आपसे मेरी विनम्र प्रार्थना है—आप मुझे इस आत्मधन के खजाने का पात्र बनाने की कृपा करें। आत्म-ज्ञान प्रदान कर मेरी सुषुप्त चेतना को जागृत करें। आत्म-ज्ञान से जो सुखानुभूति होगी वह चिरस्थाई होगी।' कौन नहीं जानता कि आत्म-धन के सामने पुदगल जनित सुख, ऐश्वर्य क्षणभंगुर एवं नाशवान है, पर जानते हुए भी क्या वैसा कर पाना हर किसी के लिए संभव है कि आत्म-ज्ञान प्राप्त हो जाए?

गौतम ने भगवान महावीर से पूछा—

नाणसंपन्नयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ? नाणसंपन्नयाए णं जीवे सव्व भावाहिगमं जणयइ। नाणसंपन्ने णं जीवे चाउरंते संसारकंतारे न विणस्सइ।

भंते! ज्ञान संपन्नता (श्रुत ज्ञान की संपन्नता) से जीव क्या प्राप्त करता है?

ज्ञान संपन्नता से वह सब पदार्थों को जान लेता है। ज्ञान संपन्न जीव चार गति-रूप चार अंतो वाली संसार अटवी में विनष्ट नहीं होता। ज्ञान से अज्ञान का कुहासा छंटता है। ज्ञान का सूर्य उदित होता है तभी सम्यक् ज्ञान और सम्यक् आचरण फलित होता है।

जहा सूई ससुत्ता, पडिया वि न विणस्सइ।
तहा जीवे ससुत्ते, संसारे न विणस्सइ।।

जिस प्रकार धागे में पिरोई हुई सुई गिरने पर भी गुम नहीं होती, उसी प्रकार ससूत्र (श्रुत सहित) जीव संसार में रहने पर भी विनष्ट नहीं होता है। भव परंपरा के विराम के लिए आत्म-ज्ञान का उदय आवश्यक है। ज्ञान से ही करणीय एवं अकरणीय की विवेक चेतना जागती है।

आज मानव आत्म-ज्ञान के धागे को छोड़ अर्थ का धागा अपने कर में कस कर थामे हुए है। समाज व्यवस्था का आधार आज धन हो गया है। अर्थ के आधार पर ही आज अर्हताओं का मूल्यांकन होता है। अर्थ की अंधी दौड़ में आज का युवा-वर्ग पूर्णरूप से पाश्चात्य रंग से रंजित है। उपभोक्तावादी अप-संस्कृति से प्रभावित जन-मानस की जीवन-शैली अस्त-व्यस्त हो रही है। परिवार, समाज और देश के पारस्परिक संबंधों में विघटन का विष घुल रहा है। मानव अशांति, तनाव, घुटन की उसांसें ले रहा है।

हिंदुस्तान आजादी के उदय से ही आतंकवाद की त्रासदी झेलता आ रहा है। आतंकवाद के आतंक से जनता पिंजरे में बंद पंछी की तरह छटपटा रही है। आतंकवाद की बलि आम नागरिक तो चढ़ ही रहे हैं, सुरक्षा बलों के जवानों को भी इसने लीला है। निर्दोष जनता को साग-सब्जी की तरह काटते हुए आतंकवादी सकुचाते नहीं हैं। उनके हृदय पाषाण की तरह कठोर होते हैं। धधकते दावानल की तरह पूरे देश व विश्व में आतंकवाद ने पांव फैला लिए हैं। आज देश का आम नागरिक भय के माहौल में जी रहा है। उसे हमेशा यही आशंका बनी रहती है कि पता नहीं कब क्या हो जाए। मानवता का गहरा अकाल नजर आ रहा है। इसका मूलभूत कारण है प्रेम, दया, करुणा, सौहार्द, सहिष्णुता, समता, मैत्री, सहृदयता, ज्ञान चेतना, भातृत्व भाव का दरिया सूखता जा रहा है। इन सब घटनाओं की पृष्ठभूमि में अर्थ का वेग है।

आडंबर, प्रदर्शन, अकूत धन का नशा प्रकारांतर से आतंकवाद को ही प्रश्रय देता है। एक तरफ समाज के मुट्ठी भर लोग गगनचूंबी अट्टालिका की हवा खा रहे हैं। ऐश-आराम, सुख-सुविधा, भोग-विलास में रंग राते हैं। त्याग, संयम, वैराग्य, स्वाध्याय, जप, अध्यात्म और श्रम-निष्ठा से मानो उन्होंने संन्यास ले रखा है। जन्मदिन, शादी-विवाह, सालगिरह, रजत-जयंती, स्वर्ण-जयंती, हीरक-जयंती आदि उत्सवों में पानी की तरह पैसा बहाते हैं। बासी भोजन करते हैं। पूर्वार्जित पुण्य को भोग रहे हैं। नए सृजन को पूर्ण विराम है। दूसरी तरफ रोटी, कपड़े, मकान के लिए तरसते बिल-बिल करते मानव झुग्गी-झोंपड़ी में मनुष्य की जूण पूरी कर रहे हैं।

अमीरी और गरीबी की बढ़ती विकट समस्या का समाधान क्या होगा? प्रेम, मैत्री, करुणा का स्रोत कहां से फूटेगा? बढ़ती हिंसा को विराम कब होगा? अशांति, घुटन, तनाव की त्रासदी से त्रस्त जनता को त्राण कैसे मिलेगा? आतंकवाद का अंत कब होगा?

इन ज्वलंत प्रश्नों का समाधान बाहरी नहीं भीतर की अंतर्यात्रा से ही प्रकट होगा। व्यक्ति अपनी ओर झांके,

शेष पृष्ठ 56 पर

आचार्यश्री तुलसी ने अपने जीवन में जो भी सपना देखा, उसे पूरा किया। उनकी अभिलाषा थी आत्म-विकास के साथ-साथ धर्मसंघ का विकास हो, मानवता का विकास हो और वे इस दिशा में सतत जागरूक रहे, अग्रसर रहे। अपने आत्म-विकास के लिए सतत जागरूक रहे और खाद्य-संयम, वाणी-संयम, सर्वेंदिय-संयम के द्वारा अपनी आत्मा को भावित किया। साथ-ही-साथ पूज्य कालूगणी की अंतिम शिक्षा को भी ध्यान में रखा और धर्मसंघ में शिक्षा, शोध तथा आध्यात्मिक नवाचारों की ओर पूर्णरूपेण ध्यान दिया।

उट्ठिए णो पमायए—अनुशासन पुरुष का आर्ष सूत्र

❑ *मुनि कुमुदकुमार* ❑

जीवन तो हर प्राणी जीता है, परंतु ऐसे लोग विरले ही होते हैं जो एक जीवंत जीवन जीते हैं। ऐसे ही एक महापुरुष ने, जिन्हें दुनिया आचार्यश्री तुलसी के नाम से जानती है, सदा जीवंत जीवन जिया। ग्यारह वर्ष की आयु में उन्होंने गृहस्थ जीवन को त्याग कर संन्यास का पथ स्वीकार कर लिया। बाईस वर्ष की आयु में आते-आते वे धर्मसंघ के अधिशास्ता बन गए। लगभग साठ वर्ष तक 'गण' का संचालन किया और दुनिया को नश्वर जीवन का संदेश देकर अमर बन गए। आचार्यश्री तुलसी का जीवन अपने-आप में एक प्रेरणा है।

अप्रमत्त पुरुष

भगवान महावीर का सूत्र 'उट्ठिए णो पमायए' को उन्होंने पढ़ा ही नहीं, अपितु पूरी तरह से आत्मसात् किया। तभी तो उम्र के उस पड़ाव पर, जहां व्यक्ति स्वयं को बूढ़ा मान विश्राम करना चाहता है, आचार्यश्री तुलसी स्वयं को कार्यक्षम मानते रहे। प्रातः चार बजे से रात्रि दस बजे तक अनवरत परिश्रम करते रहना उनके लिए सामान्य-सी बात रही। वे कभी थके नहीं। आचार्यश्री तुलसी के निर्वाण के बाद उनके उत्तराधिकारी आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने अपने एक गीत में उनके व्यक्तित्व के इस पक्ष को इन पंक्तियों में चित्रित किया 'जीवनभर काम करूंगा, गण का भंडार भरूंगा, संकल्प अटूट निभाया'। व्यक्ति अपना अधिकांश समय प्रमाद में ही गंवा देता है और समय की कमी का रोना रोता है। एक दिन में चौबीस घंटे प्रत्येक व्यक्ति के पास होते हैं, अगर किसी को समय का नियोजन करना आ जाए, तो ऐसा व्यक्ति जीवन में बहुत-कुछ कर सकता है।

जन्मोत्सव
कार्तिक शुक्ला द्वितीया
(14 नवंबर, 2004)
—अभिवंदना—

आचार्यश्री तुलसी जब किशोरावस्था में थे, तब उन पर शैक्ष संतों को पढ़ाने का दायित्व था। उनके अनुशासन का ताना-बाना कुछ इस तरह का होता कि उसमें सहजता का आभास होता, पर लक्ष्य एक ही होता—संतों का व्यक्तित्व निर्माण। एक प्रश्न मन में स्वाभाविक रूप से उठता है—गुरुदेव कालूगणी ने एक किशोर मुनि (आचार्य तुलसी) को ही बाल-संतों को पढ़ाने का दायित्व क्यों सौंपा? चिंतन करने से तत्काल स्पष्ट हो जाता है कि जो स्वयं जागरूक होता है, वही दूसरों को जागरूक बनने की प्रेरणा दे सकता है और ऐसी प्रेरणा ही कारगर होती है। वे जीवन के अंतिम समय तक बाल-संतों के व्यक्तित्व निर्माण में लगे रहे। कोई संत कभी-कभी कहते, आज आपको ज्यादा ही परिश्रम हो गया है, बाकी अध्ययन कल कर लेंगे। वे तत्काल फरमाते—क्यों कल किसने देखा? जो समय की कद्र करता है, समय भी उसकी कद्र करता है। आत्म-विकास, जीवन-विकास में आचार्यश्री तुलसी ने सदैव इस बात को ध्यान में रखा।

विकास-पुरुष

आचार्यश्री तुलसी ने अपने जीवन में जो भी सपना देखा, उसे पूरा किया। उनकी अभिलाषा थी आत्म-विकास

के साथ-साथ धर्मसंघ का विकास हो, मानवता का विकास हो और वे इस दिशा में सतत जागरूक रहे, अग्रसर रहे। अपने आत्म-विकास के लिए सतत जागरूक रहे और खाद्य-संयम, वाणी-संयम, सर्वेंद्रिय-संयम के द्वारा अपनी आत्मा को भावित किया। साथ-ही-साथ पूज्य कालूगणी की अंतिम शिक्षा को भी ध्यान में रखा और धर्मसंघ में शिक्षा, शोध तथा आध्यात्मिक नवाचारों की ओर पूर्णरूपेण ध्यान दिया।

आत्म-विकास के लिए स्वयं की साधना के साथ शोध और शिक्षा के क्षेत्र में धर्मसंघ को नए-नए आयाम दिए। आचार्यश्री तुलसी ने मुनि अवस्था में एक बार मुनि नथमलजी (आचार्य महाप्रज्ञजी) से पूछा—क्या तुम मेरे जैसा बनोगे? मुनि नथमलजी ने नपा-तुला जवाब दिया—आप बनाओगे तो बन जाऊंगा। मुनि नथमलजी को न केवल अपने जैसा बनाया, अपितु गण के शीर्ष शिखर तक पहुंचा दिया। आचार्यश्री तुलसी के हाथों ऐसा ही निर्माण हुआ मुनि मुदित का, जो वर्तमान में आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के उत्तराधिकारी युवाचार्यश्री महाश्रमणजी हैं। आचार्यश्री तुलसी ने मुमुक्षु कला को न केवल दीक्षा दी, अपितु शिक्षा और साधना की राह भी दी। संपूर्ण साध्वी समाज का आज जो नेतृत्व कर रही हैं—साध्वीप्रमुखा कनकप्रभाजी—आचार्य तुलसी की वे एक अमूल्य देन हैं।

मानवता के विकास के लिए संपूर्ण मानव जाति को अणुव्रत आंदोलन के रूप में नैतिक उत्थान की रचनात्मक दिशा प्रदान की। नैतिक और चारित्रिक मूल्यों के बिना भला जीवन ही क्या? समस्याएं अनैतिकता के कारण ही बढ़ती हैं। उन्होंने इस बात का अनुभव किया और नैतिक मूल्यों के विकास के लिए झोंपड़ी से लेकर सत्ता के महल तक अणुव्रत की अलख जगाई। देश में नैतिक, चारित्रिक मूल्यों के विकास के साथ-साथ राष्ट्र की ज्वलंत समस्याओं के समाधानकर्ता के रूप में अनगिनत कार्यों की सूची आपके नाम के साथ जुड़ी। अनेक प्रकार के सम्मान जब आपको अर्पित हुए तो वे पुरस्कार ही अपने-आप में गौरवान्वित हुए। इसी तरह भारत सरकार ने जब डाक टिकट जारी किया तो कहा गया कि संपूर्ण देश ने इस महापुरुष के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित की है।

समता-पुरुष

भगवान महावीर के दर्शन का महत्त्वपूर्ण तत्त्व है—समता। साधक का लक्ष्य जब आत्म-विकास और जन-कल्याण होता है, तो इसके लिए समता की साधना अपेक्षित होती है। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि आचार्यश्री तुलसी समता के प्रतीक पुरुष थे। आचार्यश्री तुलसी को अपने जीवन में बेहद सम्मान भी मिला, तो उतना ही तीव्र विरोध भी उनको झेलना पड़ा। तब अपने पूर्वाचार्यों के जीवन-संदेश उन्होंने सदा अपने सम्मुख रखे और विरोध की परवाह न करते हुए सत्य की राह पर निरंतर बढ़ते रहे। सन् 1954 में अणुव्रत अधिवेशन के कार्यक्रम का सांप्रदायिक तत्त्वों ने विरोध किया। विरोधी पोस्टर छापकर शहर की दीवारों पर चिपका दिए। आचार्यश्री तुलसी अधिवेशन स्थल की ओर जा रहे थे। दीवारों व सड़क पर विरोधी पोस्टरों को देखकर उन्होंने सहज ही कहा—'इन लोगों ने हमारा कितना हित किया, दोपहर की इस चिलचिलाती धूप में डामर की सड़क पर नंगे पांव चलना कठिन हो जाता, पर इन लोगों ने पोस्टर लगा कर गरमी के ताप से बचा लिया। उस मौके पर आचार्यश्री तुलसी ने एक घोष दिया—'जो हमारा करे विरोध, हम उसे समझें विनोद'—समता की साधना का यह छोटा-सा उदाहरण है। आचार्यश्री तुलसी ने एक बार कहा भी था—'अपने जीवन में मुझे जितना सम्मान मिला, उतना विरोध भी हुआ। मैं इसे बहुत अच्छा मानता हूं। मुझे केवल सम्मान ही सम्मान मिला होता, तो शायद मुझे अहं आ जाता। और केवल विरोध ही विरोध मिलता तो शायद निराशा और हीनता आ जाती। इन दोनों के कारण मेरे जीवन में समता बनी रही।

अनुशासन-पुरुष

अनुशासन जीवन की सफलता का महत्त्वपूर्ण सूत्र है। आचार्यश्री तुलसी सदैव अनुशासन के अनुगामी रहे। अनुशास्ता के लिए जरूरी है कि सबको साथ लेकर चलने की उसमें क्षमता हो। यह अनुशास्ता का कौशल ही कहलाएगा कि कैसे वह आत्म-अनुशासन का स्वरूप ले ले और किसी को भी न अखरे। आचार्यश्री तुलसी ने घोष दिया—'निज पर शासन, फिर अनुशासन'। अनुशासन की कला में निष्णात व्यक्तित्व ही ऐसा घोष दे सकता है। उन्होंने अपने अनुशासन में समता, ममता और क्षमता का समतुल्य उपयोग किया। गलती के परिष्कार के लिए उन्होंने पूरा अवकाश दिया, तो जानबूझ कर क़ी गई भूलों के लिए कठोर अनुशासन भी किया। अच्छे कार्य के लिए प्रोत्साहन व प्रेरणा, तो गलती होने पर उसके परिमार्जन के लिए अपेक्षित

शेष पृष्ठ 40 पर

तापस उन्मग्न हो, पाणि-पात्र उठाकर आहार-जल ग्रहण करने को उद्यत हो गए। उन्होंने देखा कि जाने कहां से उनकी अंजुलियों में प्रासुक जलधारा बरसने लगी। वे ईप्सित जल पीकर शांत हो गए। मानो प्यास सदा को बुझ गई, कि तत्काल उनके उठे पाणि-पात्रों में दिव्य केशर-सुरभित पयस् ढलने लगा। उन्होंने जी भर कर सुमधुर पयस् का आहार किया। ....अहो, ऐसा मधुरान्न तो आज तक चखा न था। पार्थिव भोजनों में ऐसा माधुर्य कहां? क्या इसी को अमृत कहते हैं? क्या हमने उसका प्राशन किया? ....और अचानक उन्होंने ऐसी परितृप्ति अनुभव की, मानो उनकी भूख सदा को मिट गई। ....तब आनंद और आश्चर्य से गद्‌गद् हो तापसों ने श्रीगुरु से पूछा :
'श्रीगुरुनाथ, यह सब कहां से? कैसे? और हमें यह क्या हो गया है?'

प्रभु का रूप भी अक्षय नहीं

❑ वीरेंद्रकुमार जैन ❑

सुर और असुर द्वारा समान रूप से सेवित श्री भगवान पृष्ठा-चंपा नगरी पधारे। वहां का राजा साल और उसका युवराज महासाल प्रभु के वंदन को आए। धर्म-देशना सुनी। सहसा ही वे उन्मन हो गए। अरूप निरंजन के इस सौंदर्य-राज्य से लौटना उनके लिए संभव न रहा। वह रूप देख लिया, कि जिसके बाद और कुछ देखने की इच्छा ही न रही।

सालराज का एक भांजा था गागली। वह उनकी इकलौती बेटी यशोमती और उनके जमाई पिठर का एकमात्र पुत्र था। अपने सिंहासन पर उसी का राज्याभिषेक करके, साल और महासाल प्रभु के परिव्राजक हो गए। कालांतर में विहार करते हुए प्रभु चंपा में समवसरित हुए। भगवंत की आज्ञा लेकर श्रीगुरु गौतम, साल और महासाल के साथ पृष्ठ-चंपा गए। कहीं से कोई आवाहन तो था ही!...

—भगवान महावीर—
निर्वाण कल्याणक
नमन :

पृष्ठ-चंपा में राजा गागली ने बड़े भक्ति-भाव से प्रभुपाद गौतम का वंदन-पूजन किया। सारे पौरजन भी गुरु के दर्शन-वंदन को आए। यशोमती और पिठर भी श्रीगुरु-चरणों में प्रणत हो, उनके सम्मुख ही बैठ गए। उनके बीच बैठा था गागली। देवोपनीत सुवर्ण-कमल पर आसीन हो देवार्य गौतम ने धर्म-वाणी सुनाई। सुनकर यशोमती, पिठर और गागली को लगा कि उनके भीतर सदा-वसंत फूलों के वन हैं : और बाहर के संसार में पतझर ही पतझर है। भीतर का रति-सुख इतना सघन लगा कि बाहर से मन आपो-आप ही विरत हो गया। पृष्ठा-चंपा का राज्य प्रजा को अर्पित कर, राजा गागली माता-पिता सहित श्रीगुरु गौतम के पदानुगामी हो गए।

साल, महासाल, गागली, यशोमती और पिठर—ये पांचों चंपा के मार्ग पर गुरु गौतम के पद-चिह्नों का अनुसरण करते हुए चुपचाप विहार कर रहे हैं। उन पांचों की चेतना इस समय एक ही महाभाव में एकत्र और संवादी है। उन्हें हठात् लगा कि भीतर एक ऐसा आलोकन है कि बाहर का अवलोकन अनावश्यक हो गया है। सहसा ही वे निरीह हो आए। वे एक ऐसे अंतर-सुख में मगन हो गए कि उन्हें कैवल्य और मोक्ष की भी कामना न रही। चाह मात्र एक चिन्मय लौ हो रही।

चंपा पहुंच कर अपने पांचों शिष्यों सहित श्रीगुरु गौतम समवसरण में यों आते दिखाई पड़े, जैसे वे पांच सूर्यों के बीच खिले एक सहस्रार कमल की तरह चल रहे हैं। पांचों

शिष्यों ने गुरु को प्रणाम कर, आदेश चाहा। गौतम उन्हें श्रीमंडप में प्रभु के समक्ष लिवा ले गए। फिर आदेश दिया कि :

'आयुष्यमान् मुमुक्षुओ, श्री भगवान का वंदन करो?'

वे पांचों गुरु-आज्ञा पालन को उद्यत हुए कि हठात् शास्ता महावीर की वर्जना सुनाई पड़ी :

'केवली की आशातना न करो, गौतम। ये पांचों केवलज्ञानी अर्हंत हो गए हैं। अर्हंत, अर्हंत का वंदन नहीं करते!'

तत्काल गौतम ने अपने अज्ञान का निवेदन कर, अपने पांचों शिष्यों से क्षमा-याचना की।

× × ×

....गौतम का मन खिन्न हो गया। ....मेरे मुख से प्रभु की धर्म-प्रज्ञप्ति सुनकर इन पांचों आत्माओं ने क्षण मात्र में कैवल्य-लाभ कर लिया। पर मैं स्वयं कोरा ही रह गया। शिष्य गुरु हो गए, गुरु को शिष्य हो जाना पड़ा। उसे शिष्यों के प्रति प्रणत हो जाना पड़ा। गौतम का मन गहरी व्यथा से विजड़ित हो गया। प्रभु के अनन्य प्रिय पात्र और पट्टगणधर होकर भी, वर्षों प्रभु के साथ तदाकार विहार करते हुए भी, अर्हत् की कैवल्य-कृपा उन्हें प्राप्त न हो सकी? और इस बीच कई आत्माएं प्रभु के समीप आकर अर्हंत पद को प्राप्त हो गईं। ....'क्या मुझे कभी केवलज्ञान प्राप्त न होगा? क्या मुझे इस भव में सिद्धि नहीं मिलेगी?'

गौतम को अचानक याद आया, बहुत पहले उन्हें एक देववाणी सुनाई पड़ी थी। उसमें कहा गया था कि : 'एक बार अर्हंत भगवंत ने अपनी देशना में कहा था कि कोई व्यक्ति यदि अपनी लब्धि के बल अष्टापद पर्वत पर जाकर, वहां विराजमान जिनेश्वरों को नमन करे, और वहां एक रात्रि वास करे, तो उसे इसी जन्म में सिद्धि प्राप्त हो सकती है।'

....त्रिलोक-गुरु महावीर स्वयं, गौतम के एकमेव श्रीगुरु हैं। उनके होते वह देववाणी, और अष्टापद-यात्रा? ऐसी बात वह प्रभु से कैसे पूछे? गौतम अन्यमनस्क और उदास हो गए। वे बड़ी उलझन में पड़ गए। श्री भगवंत ने उनकी पीड़ा को समझ लिया। तत्काल आदेश दिया :

'देवानुप्रिय गौतम, अष्टापद पर्वत पर जाओ। वहां से पुकार सुनाई पड़ी है। अर्हत् की कैवल्य-ज्योति का उस दुर्गम में संवहन करो!'

गौतम की आंखों में परा-प्रीति के आंसू झलक आए। ....मेरे प्रभु कितने संवेदी हैं, वे मेरे हर मनोभाव में मेरे साथ हैं। मेरे मन की हर साध बिन कहे ही पूर देते हैं!

....प्रभु की पाद-वंदना कर तत्काल श्रीपाद गौतम समवसरण से प्रस्थान कर गए। और चारण-ऋद्धि के सामर्थ्य से, वायुवेग के साथ ना-कुछ समय में ही अष्टापद पर्वत के समीप आ पहुंचे। उस काल, उस समय कौडिन्य, दत्त, शैवाल आदि पंद्रह सौ तपस्वी, अष्टापद को मोक्ष का हेतु सुनकर, उस गिरि पर चढ़ने का पराक्रम कर रहे थे। उनमें से पांच सौ तपस्वी चतुर्थ तप करके आर्द्र कंदादि का पारण करते हुए भी, अष्टापद की पहली मेखला तक ही आ सके थे। दूसरे पांच सौ तापस छट्ठ तप (छह उपवास) करके मात्र सूखे कंदादि का पारण करते हुए भी, उस गिरि की दूसरी मेखला तक ही पहुंच सके थे। तीसरे पांच सौ तापस अट्ठम तप करके, सूखे शैवाल का पारण करते हुए भी, तीसरी मेखला से आगे न जा सके थे। इससे अधिक तपस्या की सामर्थ्य न होने से, वे इन तीन मेखलाओं में ही रुके पड़े थे। उनके मन में प्रश्न था कि : क्या केवल तपस्या से ही चूड़ांत पर पहुंचा जा सकता है? उनमें बोध-सा जाग रहा था कि कोरा कायक्लेश मोक्षलाभ नहीं करा सकता।

....तभी उन्होंने अचानक देखा कि तप्त सुवर्ण के समान कांतिमान, एक पुष्टकाय महाशाल पुरुष वहां आकर पर्वतपाद में उपविष्ट हुए हैं। पर्वत के समक्ष वे कायोत्सर्ग में लीन हो गए हैं। उन्हें अष्टापद पर चढ़ने को उद्यत देख, वे तापस परस्पर कहने लगे, हम कृषकाय होकर भी तीसरी मेखला से आगे न जा सके, तो ये विपुल शरीर महाकाय पुरुष कैसे ऊपर चढ़ सकेंगे? वे कौतूहल-प्रश्न ही करते रहे, और उधर गौतम न जाने कब उस महागिरि पर चढ़ गए, और देव के समान उनकी आंखों से अदृश्य हो गए। तब उन सब को निश्चय हो गया कि इन महर्षि के पास कोई महाशक्ति है। सो उन्होंने निर्णय किया कि जब ये महापुरुष लौट कर नीचे आएंगे, तब हम सब इनको गुरु रूप में स्वीकार कर, इनका शिष्यत्व ग्रहण कर लेंगे। और वे, पर्वत-चूल पर एकाग्र ध्यान लगाए गौतम की प्रतीक्षा करने लगे।

उधर गौतम लब्धिबल से, क्षण मात्र में ही अष्टापद पर्वत की चूड़ा पर जा पहुंचे थे। वहां उन्होंने शाश्वत विद्यमान चौबीस तीर्थंकरों के अकृत्रिम और आकाशगामी, उत्तान खड़े दिव्य बिंबों का बड़े भक्ति-भाव से वंदन

किया। उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ, मानो नंदीश्वर द्वीप के भरतेश्वर द्वारा बनवाए हुए चैत्य में उन्होंने प्रवेश किया हो। चैत्य में से निकल कर गौतम एक विशाल अशोक वृक्ष के नीचे विराजमान दिखाई पड़े। वहां अनेक सुरों, असुरों और विद्याधरों ने उनकी वंदना की। गौतम ने उनके योग्य धर्म-देशना उन्हें सुनाई, जिससे उनके कई चिरंतन प्रश्नों का समाधान हो गया। वहां एक रात्रि परम ध्यान में निर्गमन करके, प्रातःकाल वे पर्वत से उपत्यका में उतर आए।

तब वे सारे तापस प्रभुपाद गौतम के समीप उपनिषत् हुए। गौतम ने स्वयं ही उन तापसों की जिज्ञासा जान ली। सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य की महिमा का प्रतिबोध देकर गौतम बोले :

'परम कल्याणवरेषु तापसो, देह की स्थूलता और क्षीणता चेतना के ऊर्ध्वगमन की निर्णायक नहीं। साधक श्रमण की आत्म-शक्ति के विकास पर ही यह निर्भर करता है। आत्मजयी अर्हत् देह में विद्यमान होकर भी, देहातीत विचरते हैं। चारित्र्य-शुद्धि के कारण भावलिंगी यतियों की चेतना में जब महाभाव आलोकित हो उठता है, तो उनके निकट ऐसी दैवी ऋद्धियां स्वतः सहज प्रकट हो उठती हैं, जो मानुषी अवस्था में संभव नहीं। ये ऋद्धियां और लब्धियां उन मुनि भगवंतों की काम्य नहीं, लक्ष्य नहीं, प्रयोजन नहीं। वे आप ही मानो उनकी चरण-चेरियां होकर, उनकी सेवा में उपस्थित रहती हैं। आत्म-कल्याण और लोक-कल्याण हेतु कभी-कभी वे स्वयं ही मुनीश्वर की सहायक हो जाती हैं। अणिमा और महिमा ऋद्धि पल मात्र में देह को लघु या गुरु कर देती हैं। तब चैतन्य के ऊर्ध्व आरोहण में देह-दासी की तरह अनुगमन कर जाती हैं। मैं खेल-खेल में ही कैसे इस महागिरि पर चढ़ कर उतर आया, यही तो तुम्हारी जिज्ञासा थी?'

'हे भदंत महाश्रमण, आप अंतर्ज्ञानी हैं। आप हमारे तन-मन के स्वामी हैं। हमें कुछ और भी प्रतिबुद्ध करें। श्रमण भगवंतों को सहज सुलभ ऋद्धियों के कुछ प्रकार और स्वरूप हमारे लिए आलोकित करें।'

'अणु मात्र शरीर करने की सामर्थ्य, अणिमा-ऋद्धि है। मेरु से भी महत्तर शरीर करने की सामर्थ्य, महिमा-ऋद्धि है। पवन से भी हलका शरीर करने की सामर्थ्य, लघिमा-ऋद्धि है। वज्र से भी भारी शरीर करने की सामर्थ्य, गरिमा-ऋद्धि है। भूमि पर बैठ कर उंगली के अग्रभाग से मेरु पर्वत के शिखर तथा सूर्य-चंद्र के विमान को स्पर्श करने की सामर्थ्य, प्राप्ति-ऋद्धि है। जल पर भूमि की तरह तथा भूमि पर जल की तरह गमन करने की सामर्थ्य और धरती का निमज्जन तथा उन्मज्जन करने की सामर्थ्य, प्राकाम्य-ऋद्धि है। त्रैलोक्य का प्रभुत्व प्रकट करने की सामर्थ्य, ईशत्व-ऋद्धि है। देव, दानव, मनुष्य आदि सर्व जीवों को वश करने की सामर्थ्य, वशित्व-ऋद्धि है। पर्वतों के बीच आकाश की तरह गमनागमन करने की शक्ति और आकाश में पर्वतारोहण की तरह गमनागमन करने की सामर्थ्य, अप्रतिघात-ऋद्धि है। अंतर्धान होने की सामर्थ्य, अंतर्धान-ऋद्धि है। युगपत् (एक साथ) अनेक आकार रूप शरीर करने की सामर्थ्य, कामरूपित्व-ऋद्धि है। ऐसी अनेक प्रकार की ऋद्धियां स्वतः ही योगी के अधीन हो रहती हैं।'

श्रीपाद गौतम के ऐसे वचन सुन कर, पंद्रह सौ तापस चकित निःशब्द, निर्मन-से हो रहे। फिर उन्होंने एक स्वर में निवेदन किया :

'हे महायतिन्, हम सब श्रीचरणों में समर्पित हैं। आप हमारे एकमेव श्रीगुरु हो जाएं और हमें अपने शिष्य रूप में ग्रहण करें।'

'सुनो तापसो, इस समय पृथ्वी पर एकमेव श्रीगुरु हैं, गुरुणांगुरु सर्वज्ञ अर्हंत महावीर। मैं स्वयं तो केवल उनका पादपीठ हूं। समस्त लोकालोक के गुरु वही त्रिलोकपति भगवान तुम्हारे एकमेव गुरु हो सकते हैं। चाहो तो मेरे संग उन प्रभु के जगत्-वंद्य समवसरण में चलो और उन्हें श्रीगुरु के रूप में प्राप्त करो।'

'हे महाभाव मुनीश्वर, पहले हमें भी अपने ही जैसा निर्ग्रंथ दिगंबर बना लें। हमें जिनेश्वरी दीक्षा देकर, अपने पदानुसरण के योग्य बना लें। तभी तो हम आपके अनुगमन के पात्र हो सकते हैं। तभी तो हम अर्हंत महावीर की कृपा के भाजन हो सकते हैं।'

तापसों की प्रबल अभीप्सा और अटल आग्रह देख, श्रीगुरु गौतम प्रसन्न हुए। उन्होंने सहर्ष उन्हें यतिलिंग प्रदान किया। अदृश्य देव-शक्ति ने उन्हें पिच्छी-कमंडल दान किए। फिर विंध्यगिरि में जैसे यूथपति महाहस्ति के साथ दूसरे हाथी चलते हैं, वैसे ही भदंत गौतम अपने पंद्रह सौ शिष्यों के साथ, श्रीभगवान के समवसरण की दिशा में प्रस्थान कर गए।

× × ×

....भगवद्पाद गौतम को जाने क्या सूझा कि उन्होंने राजमार्ग छोड़कर पथहीन अरण्य की राह पकड़ी। तापस

निःशंक होकर अपने गुरु का अनुगमन करने लगे। जाने कब से वे दीर्घ और कठिन तपस्या कर रहे थे। गुरु-प्राप्ति के उल्लास से उन्हें एक अपूर्व और तीव्र भूख लग आई। खूब प्यास भी लग रही थी। ....गौतम अपने शिष्यों की इस एषणा को जान गए। वे उनकी तितिक्षा की कसौटी करते रहे। शिष्य भूखे-प्यासे, देह की पुकार की अवहेलना कर, एकाग्र चित्त से श्रीगुरु के पीछे द्रुत-पग चलते चले गए। गौतम को प्रत्यय हुआ कि ये तापस देहभाव से अनायास उत्तीर्ण हो रहे हैं। तभी अचानक एक स्थान पर रुक कर, श्रीगुरु गौतम ने आदेश दिया :

'देवानुप्रियो, आहार की वेला हो गई। स्थिर खड़े होकर अपनी अंजुलियां ऊपर उठाओ। आहार-जल प्रस्तुत है!'

वे पंद्रह सौ श्रमण पहले तो सुनकर अवाक् रह गए। इस जनहीन जलहीन अरण्य में आहार-जल कैसे? कहां प्रस्तुत है वह? कहां से आएगा वह? अगले ही क्षण उनका प्रश्न और विकल्प जाने कहां विलीन हो गया। वे भीतर-बाहर निरे शून्य हो रहे। आपो-आप ही वे नासाग्र पर दृष्टि स्थिर कर, ध्यानावस्थित हो गए।

'आयुष्यमन्, आहार जल ग्रहण करो!'

तापस उन्मग्न हो, पाणि-पात्र उठाकर आहार-जल ग्रहण करने को उद्यत हो गए। उन्होंने देखा कि जाने कहां से उनकी अंजुलियों में प्रासुक जलधारा बरसने लगी। वे ईप्सित जल पीकर शांत हो गए। मानो प्यास सदा को बुझ गई, कि तत्काल उनके उठे पाणि-पात्रों में दिव्य केशर-सुरभित पयस् ढलने लगा। उन्होंने जी भर कर सुमधुर पयस् का आहार किया। ....अहो, ऐसा मधुरान्न तो आज तक चखा न था। पार्थिव भोजनों में ऐसा माधुर्य कहां? क्या इसी को अमृत कहते हैं? क्या हमने उसका प्राशन किया? ....और अचानक उन्होंने ऐसी परितृप्ति अनुभव की, मानो उनकी भूख सदा को मिट गई। ....तब आनंद और आश्चर्य से गद्‌गद् हो तापसों ने श्रीगुरु से पूछा :

'श्रीगुरुनाथ, यह सब कहां से? कैसे? और हमें यह क्या हो गया है?'

'परम मुमुक्षु तापसो, जानो कि अक्षीण महानस लब्धि तुम्हारी सेवा में आ खड़ी हुई है। तुम कल्प-काम हुए। श्रमणो! तुम्हारा काम्य पानी और पयस् तुम्हारे ही भीतर से उद्‌गीर्ण हो आया। तुम आत्मकाय हुए, आयुष्यमानो!'

....और उन पंद्रह सौ तापसों ने अनुभव किया कि जैसे उनका शरीर अनायास परिमल की तरह हलका और व्याप्त हो चला है। भीतर के पोर-पोर में शून्य उभर रहा है। बाहर भी सब-कुछ में एक विश्रब्ध शून्य गहराता जा रहा है। औचक ही उन सबको लगा कि उनका 'मैं' विलुप्त हो गया है। प्रथम पुरुष भी नहीं, द्वितीय पुरुष भी नहीं, बस निरे पंद्रह सौ तृतीय पुरुष, बिना किसी आयास या इच्छा के स्वतः संचालित चले चल रहे हैं। कर्ता भी नहीं, भोक्ता भी नहीं, व्यक्ति भी नहीं। निरे दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य एकीभूत : अनन्य अन्य पुरु। ....द्रष्टा, दृश्य, दर्शन एकाकार हो गए हैं। ....और हठात् उन सबको संवेदित हुआ कि उनके भीतर जाने कितने सूर्यों की एक नदी-सी बह रही है।....

परम मुहूर्त घटित हुआ। दत्त आदि पांच सौ तापसों को, दूर से ही प्रभु के अष्ट प्रतिहार्य देखकर उज्ज्वल केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। वैसे ही कौडिन्य आदि पांच सौ तापसों को दूर से ही सर्वज्ञ महावीर का दर्शन हो गया : और निमिष मात्र में वे कैवल्य से प्रभास्वर हो उठे। शुष्क शैवाल-भक्षी पांच सौ तापसों को, प्रभु पर छाए अशोक वृक्ष की हरी छाया अनुभव कर कैवल्य-लाभ हो गया।

× × ×

समवसरण के श्रीमंडल में पहुंचकर देवार्य गौतम ने विधिवत तीन प्रदक्षिणा देकर, श्रीभगवान का त्रिवार वंदन किया। उनके पीछे खड़े तापसों का देहभाव अनायास चला गया। वे वंदना-प्रदक्षिणा से परे चले गए। वे कायोत्सर्ग में लीन हो, निश्चल ध्रुवासीन हो रहे। और विपल मात्र में ही अर्हंत महावीर के साथ तदाकार हो गए।

तभी श्रीगुरु गौतम ने अपने पंद्रह सौ तापस शिष्यों को आदेश दिया :

'महाभाग तापसो, श्रीभगवान की वंदना करो!'

तत्काल प्रभु ने वर्जना का हाथ उठाकर निर्देश किया :

'केवली की आशातना न करो, आयुष्यमान् गौतम! केवली, केवली को वंदना नहीं करते। ये पंद्रह सौ तापस कैवल्य-लाभ कर अर्हंत हो चुके हैं। अर्हंत, अर्हंत को प्रणाम नहीं करते, वे परस्पर को दर्पण होते हैं।'

....सुनकर गौतम की सुप्त व्यथा फिर जाग उठी। धन्य हैं ये महात्मा! मेरे ही द्वारा प्रतिबोधित और दीक्षित मेरे ये पंद्रह सौ शिष्य भी केवली हो गए? और मैं स्वयं निरा ठूंठ ही रह गया! प्रभु के निकटतम होकर भी, मैं अब तक

शेष पृष्ठ 56 पर

विद्यार्थीदेवनारायण भाटी की कविता

•

वसुधारा

कौन जादूगर
मेरी काया में प्रवेश कर गया है
जो मुझे द्युलोक से परे
अनंत चमकीले ब्रह्मांडों का
दर्शन करा रहा है?
हजारों आदित्यों का निर्झर
इन लोकोत्तर छवियों पर बरस रहा है
और उनकी रोशनी में
प्रसन्न बच्चों की तरह
सारे नक्षत्र किलकारी मारते
दौड़ रहे हैं।

यह कौन महादानी है
जो दोनों हाथों से सागर उलीच रहा है
और किनारे खड़ी
असंख्य प्यासी भीड़ को
नहलाता चला जा रहा है?
ये कौन लोग हैं
जिनके बलवान पुट्ठे
धुले हुए सेबों की तरह चमक रहे हैं?
उनके चेहरों पर
असीम तृप्ति का उल्लास है
और सुख के कारण
उनकी आवाज
गले में अटक-अटक कर
रह जाती है।

बेतहाशा कुहराम के बीच
यह कैसी सुरीली रागिनी
सौंदर्य के बेकरार टुकड़ों की तरह
रह-रह कर सुनाई पड़ती है?

जैसे देवताओं से छूटी हुई कलाएं
आंदोलित समुद्र में
शरीर धारण करने के लिए
दौड़ रही हैं
और मरमरी वीनस का जन्म हो रहा है।

जादूगर,
मेरा रच रंच कर बांधा हुआ कवच
न जाने कब का
तार-तार होकर
महीन कागज की पर्चियों की तरह
चारों ओर उड़ गया है
और अब इन बेपनाह थपेड़ों की मार से
मेरी अरक्षित पसलियां
हिंडोले की तरह
कांपु रही हैं।
जादूगर,
मैं सरे बाजार नंगा हो गया हूं
मेरे पास छिपाने को
कुछ भी शेष नहीं रह गया है
असंख्य बूंदें मेरे ऊपर बरस रही हैं
और मेरी अधडूबी चेतना में
अभ्रक की तरह तुम्हारी झिलमिलाती आवाज
आ रही है :
लो, देखो, सामना करो।

अभी मैं इस महादर्शन से
तृप्त नहीं हुआ हूं
मैं उड़कर उन अपरिमित आवेगों को
अपनी उंगलियों पर गुजरते हुए
छूना चाहता हूं
मैं इस दहाड़ते निर्झर के प्रवाह में
अपना हाथ डालना चाहता हूं

ओ जादूगर,
तुम मुझे वहां ले चलो
जहां मेरे हाथ
उस धारा के पास तक पहुंच सकें।

अभी मैंने उन अंतरिक्षों की
यात्रा नहीं की है
जिधर से ये सारे द्युलोक के नागरिक
अलौकिक तीर्थों के लिए जाते हैं
यह सारा का सारा पथ
उनकी चटकीली ध्वजाओं से
हिल्लोलित हो रहा है
और उनके कंठ की आवाजें
धूप में तितलियों की तरह
प्रसन्न आकाश में फैल गई हैं—
कब से यह महोत्सव मनाया जा रहा है
जहां मुझे आज लाकर खड़ा कर दिया गया है?

अब मुझे अपने उस छूटे हुए कलेवर की
याद भी नहीं आ रही है
जो यहां से
निर्जीव सर्प की तरह
किसी कोने में पड़ा दिखता है
जादूगर,
तुम कब तक मुझे
इस ऐश्वर्य के किनारे खड़ा रख सकते हो?
तुम चाहो तो उस केंचुल को
समुद्र के हवाले कर देना
और मुझे
इन गूंजती हुई चट्टियों में
खो जाने के लिए छोड़ देना। ❖❖

निर्देश—कुशल अनुशास्ता की यही पहचान होती है। अनुशासन का ऐसा विलक्षण गुण गणाधिपति तुलसी में सर्वथा विद्यमान था।

विलक्षण पुरुष

आचार्यश्री तुलसी ने अपने जीवन में अनेक विलक्षण कार्य किए, जिनमें एक विलक्षण कार्य है—अपने ही पद का विसर्जन। सत्ता के शिखर पर बैठे लोगों के लिए यह महाआश्चर्य था। आज हर व्यक्ति नाम, पैसा और पद—इन तीनों को येन-केन-प्रकारेण पाना चाहता है, परंतु आचार्यश्री तुलसी ने विश्व को एक संदेश दिया, प्रेरणा दी। लगभग छ दशक तक उन्होंने निर्बाध गण का संचालन किया। सत्ता के लिए भागम-भाग करने वालों के लिए यह उदाहरण है और इस तरह पद का विसर्जन प्रेरणादाई भी है। जब अपने पद का विसर्जन किया, वे हर दृष्टि से सक्षम थे। संपूर्ण धर्मसंघ का विश्वास, सैकड़ों की तादाद में अनुशासन-निष्ठ, प्रज्ञानिष्ठ, साधनानिष्ठ शिष्य-शिष्याएं,

पृष्ठ 33 का शेष

लाखों अनुयाइयों की आस्था और श्रद्धा का अपार ज्वार उनके पास था। ऐसे समय में अपने पद का विसर्जन कर अपने उत्तराधिकारी को उस पद पर सुशोभित कर देना संपूर्ण विश्व की एक अभिनव प्रेरणादाई घटना रही।

समण-श्रेणी की स्थापना भी आचार्यश्री तुलसी के जीवन का एक अनूठा कार्य रहा। भगवान महावीर के दर्शन—अहिंसा, अनेकांत, अपरिग्रह और अणुव्रत, जीवन-विज्ञान, प्रेक्षाध्यान को समण वर्ग देश-विदेश में जन-जन तक पहुंचा रहे हैं। अहिंसा प्रशिक्षण एवं अहिंसा समवाय के कार्यक्रमों को भी वे व्यापक स्तर पर चला रहे हैं।

ऐसी विलक्षणता के लिए चाहिए अटूट साहस, समय की सही पहचान, आत्मविश्वास और दूरदर्शी सोच। इन्हीं विशिष्ट गुणों के कारण आचार्यश्री तुलसी ने जितना जीवन जिया, एक जीवंत जीवन जिया—अपने लिए, धर्मसंघ के लिए और संपूर्ण मानवता के लिए। उस महामानव का जीवन अपने-आप में एक संदेश है। ❖

क्या मेरा इस धरती पर होना अपने में संपूर्ण है? मैं अक्सर यह प्रश्न अपने से पूछता हूं। यदि गौतम बुद्ध बारह वर्ष समाधि में रहकर कोई सत्य, सत्य का दर्शन उपलब्ध कर पाए तो अवश्य ही वह दर्शन अपने में संपूर्ण रहा होगा। यदि ऐसा था तो उन्हें सारनाथ में चार आदमियों के सम्मुख अपना संदेश देने की क्यों जरूरत महसूस हुई? क्या कहीं उनकी आत्मोपलब्धि संपूर्ण होने पर भी आत्मशंकित, अप्रमाणित थी? क्या ऐसा नहीं था कि बुद्ध का दर्शन केवल अपने संदेश में ही संपूर्ति पा सकता था? तपस्या में पाया हुआ आलोक जब एक-दूसरे के अंधेरे को न छूता तब तक वह प्रकाश न ग्रहण कर पाता। दूसरे का अंधेरा ही उनके आलोक की कसौटी बन सकता था। संवाद हम दूसरों से करते हैं—दूसरों के लिए नहीं—स्वयं अपने को पहचानने के लिए। इसलिए वह आत्मा की जरूरत है। इसीलिए वह स्वार्थ और परमार्थ से ऊपर उठकर जीने की अनिवार्य शर्त और मर्यादा बन जाता है।

इससे यह निष्कर्ष निकल सकता है और यह निष्कर्ष भ्रामक होगा कि संवाद की प्रक्रिया केवल आत्मोपलब्धि या सत्य को प्राप्त करने के बाद ही शुरू हो सकती है। इससे पहले कि हम दूसरों से कुछ कहें, हमें खुद को पहचानना चाहिए, यह बात ऊपर से देखने पर संगत लगती है, किंतु असल में भ्रामक है, क्योंकि अपने को पहचानने का संघर्ष ही संवाद को जन्म देता है—अपने विगत अनुभवों से संघर्ष, अपनी दुनिया से संघर्ष। समाधि से पहले बुद्ध का जीवन, जब वह सिद्धार्थ थे, उनकी साधना के लिए उतना ही जरूरी था जितना समाधि के बाद का जीवन, जब वह भगवान बने। उन्होंने जरा, बुढ़ापे और मृत्यु को देखा था। दुख से उनका साक्षात्कार कुछ वैसा ही आत्ममंथित करने वाला अनुभव था जैसा शायद गांधीजी को पहली बार दक्षिणी अफ्रीका में उपलब्ध हुआ होगा। जब हम दुनिया के संपर्क में आते हैं—दैन्य, अत्याचार और उत्पीड़न को देखते हैं—तब उस क्षण पहली बार हमारा अपनी आत्मा से संवाद शुरू होता है। पहली बार यह शंका कचोटती है कि अगर ये लोग दुखी हैं तो कहीं मेरा सुख आत्मछलना तो नहीं है? कितना अजीब है, हमारा पहला संवाद अकेली घड़ियों में अपनी आत्मा से होता है, लेकिन यह संवाद असंभव होता यदि मेरे और आत्मा के बीच दुनिया की छांह नहीं गिरती।

—निर्मल वर्मा

शीलन

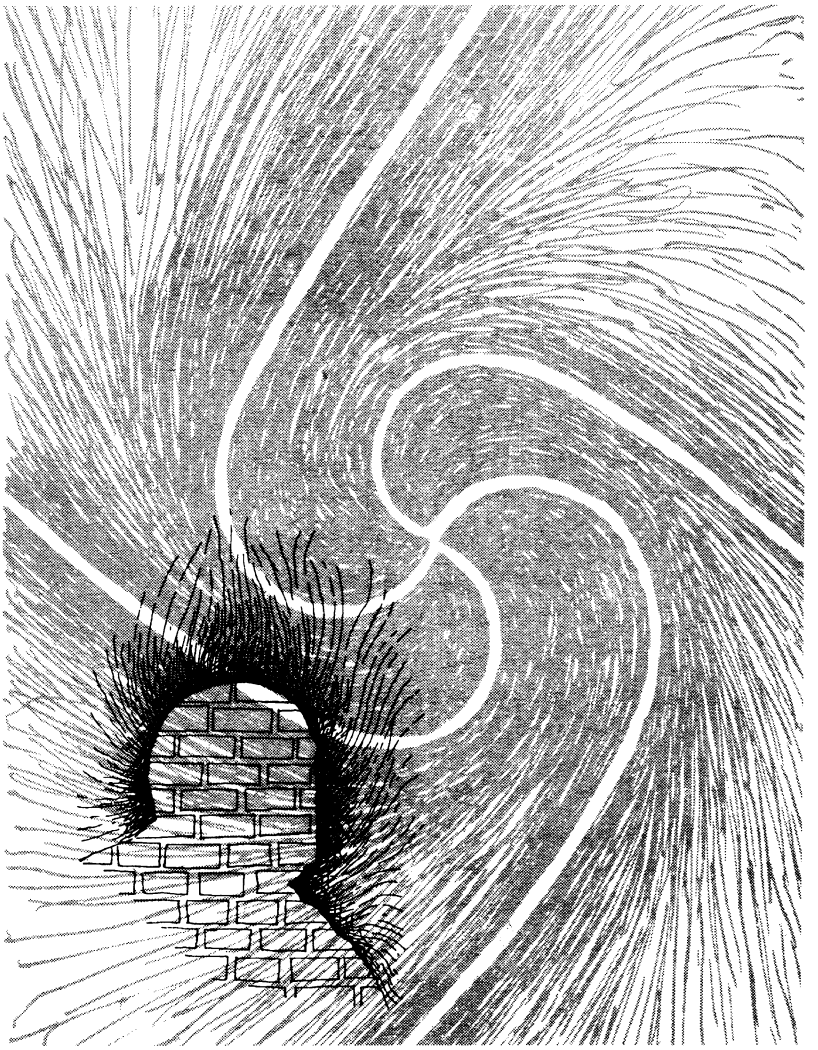

परोपकार की वृत्ति से दिया हुआ द्रव्य भी यदि ज्ञानपूर्वक न दिया गया हो, तो बहुत बार हानिकारक सिद्ध होता है, यह किस मनुष्य का अनुभव नहीं है! शुभवृत्ति से किए हुए समस्त कर्म तभी शोभा पाते हैं, जब उनके साथ ज्ञान का मिलन हो। इसलिए समस्त कर्मों की पूर्णाहुति ज्ञान में ही होती है।

—महात्मा गांधी

सामाजिक व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने के लिए जिस तरह दंड व्यवस्था है, उसी तरह अध्यात्म के स्तर पर अनुशासन को बनाए रखने के लिए प्रायश्चित्त का विधान है। दंड स्वेच्छा से स्वीकार नहीं किया जाता है, वह विवशता से स्वीकार कराया जाता है। इसमें अपराध के प्रति ग्लानि का भाव नहीं होता। इसीलिए दंड थोपा हुआ अनुशासन माना जाता है। दूसरी ओर आध्यात्मिक स्तर पर अनुशासन को स्वेच्छा से स्वीकार किया जाता है। वह बलात् थोपा नहीं जाता है। जब तक अपराधी स्वयं अपने अपराध को स्वीकार नहीं कर लेता है, तब तक उसे प्रायश्चित्त नहीं दिया जा सकता।

अपराध निरोध : सजा से कि शोधन से

❑ साध्वी विमलप्रज्ञा ❑

हर देश का अपना संविधान होता है। हर समाज की अपनी एक आचार संहिता होती है। हर संस्था के अपने कुछ नियम होते हैं। उनकी सम्यक् अनुपालना से ही देश, समाज या संस्था विकास की दिशा में गतिशील बनते हैं। नियमों के अतिक्रमण का अर्थ है—विकास की दिशा को विराम लगा देना। नियमों के प्रति निष्ठा बनी रहे, स्वछंदता पर अंकुश लगा रहे—इसीलिए न्याय-व्यवस्था की भी अपेक्षा हुई।

जहां समाज होता है, वहां अपराध न हो—यह संभव नहीं हो सकता। अपराधों की निरंतर उपेक्षा से नियम या मर्यादा का ढांचा चरमरा जाता है। समाज या संस्था के अस्तित्व पर प्रश्नचिह्न लग जाता है। इस संदर्भ में हमें यह देखना है कि आखिर व्यक्ति अपराध या गलती क्यों करता है? इसके अनेक कारण हो सकते हैं। कुछ कारण इस प्रकार हो सकते हैं—

- नाड़ी तंत्र का असंतुलन,
- शारीरिक या मानसिक विक्षिप्तता,
- बढ़ती हुई महत्त्वाकांक्षाएं,
- अत्यंत अभाव की स्थिति,
- निषेधात्मक सोच।

इन परिस्थितियों में व्यक्ति की विवेक-चेतना निष्क्रिय हो जाती है और व्यक्ति अपराध कर बैठता है। इन अपराधों की रोकथाम के लिए दंड-व्यवस्था निर्धारित होती है। दंड-व्यवस्था का उद्देश्य है—अपराधों के प्रति एक प्रकार का भय का भाव पैदा करना और उनको रोकना, जिससे व्यक्ति गलती करने का साहस न करे।

अपराधों की रोकथाम के अनेक तरीके हो सकते हैं। लेकिन सम्यक् तरीका है—प्रशिक्षण के द्वारा भूल का एहसास कराना। अपराध भी एक रोग है, यह एक दृढ़ मान्यता है। अपराध को बलपूर्वक दबाने से वह दूसरे रूप में पुनः उभर सकता है। जबकि सहानुभूति और प्रशिक्षण के द्वारा चेतना को जगाने से अपराधी के मानस में अपराध-बोध के प्रति पश्चात्ताप के भाव पैदा किए जा सकते हैं। उसमें यह संकल्प जगाया जा सकता है कि—'जो भूल पहले हो चुकी है वह पुनः न दोहराई जाए।'

प्रतिशोध के द्वारा अपराध को दूर किया जा सकता है। पर, यहां प्रतिशोध का प्रचलित अर्थ—'शठे शाठ्यं समाचरेत्' नहीं है। यहां प्रतिशोध का अर्थ है—अपराध के कारण भीतर में जो मलिनता आ गई है, उसका शोधन करना। उसके लिए प्रायश्चित्त और पश्चात्ताप कर के निर्मलता का अनुभव करना। एक अपराधी व्यक्ति यदि अपनी भूलों को पश्चात्ताप की ज्वाला में जला देता है तो वह अपने भविष्य की सुरम्यता को सुरक्षित रख लेता है।

एक अत्यंत शक्तिसंपन्न व्यक्ति जीवन के अंत में भी अपने गलत कार्यों से हीन, दीन और निर्वीर्य बन जाता है। अपने ही हाथों से अपने भविष्य की सुंदरता पर कालिख पोत देता है और भीतर ही भीतर अपराध-बोध उसे सालता रहता है। इतिहासपुरुष हिटलर धीर, वीर और साहसी

व्यक्ति था। उसने हजारों निरीह व्यक्तियों को मौत के घाट उतारा। व्यवहार के अनुसार कहा जाएगा कि उसके क्रूर हाथों से दूसरों का कितना नुकसान हुआ है, लेकिन निश्चय कहता है—दूसरों की अपेक्षा उसने अपना कितना नुकसान किया। जब अपनी रक्षा के लिए उसे बंकर में भूमिगत होना पड़ा, तब वह इतना भयभीत था कि ताजा हवा लेने के लिए भी बंकर से बाहर नहीं आ सकता था। उसका मानसिक संताप इतना बढ़ गया कि एक पैर के लकवा मार गया। जो बाल काले थे, वे एकाएक सफेद हो गए। अंत में मानसिक स्थिति नियंत्रण के बाहर हो गई। उसे आत्महत्या के सिवाय कोई मार्ग दिखाई नहीं दिया।

अंतिम समय में हिटलर की यह स्थिति बनी क्यों? उसने अपने जीवन में जो-कुछ किया, उसकी परतें उसके मानस पर जमती चली गईं। उनके शोधन या निष्कासन का कोई प्रयत्न उसने नहीं किया। उस समय की वे भूलें तब गांठों का रूप धारण कर भीतर-ही-भीतर उसे सालती रहीं। जिससे उसका मानसिक संताप इतना बढ़ा कि उसने अपने जीवन को ही खतरे में डाल दिया।

सामाजिक व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने के लिए जिस तरह दंड व्यवस्था है, उसी तरह अध्यात्म के स्तर पर अनुशासन को बनाए रखने के लिए प्रायश्चित्त का विधान है। दंड स्वेच्छा से स्वीकार नहीं किया जाता है, वह विवशता से स्वीकार कराया जाता है। इसमें अपराध के प्रति ग्लानि का भाव नहीं होता। इसीलिए दंड थोपा हुआ अनुशासन माना जाता है। दूसरी ओर आध्यात्मिक स्तर पर अनुशासन को स्वेच्छा से स्वीकार किया जाता है। वह बलात् थोपा नहीं जाता है। जब तक अपराधी स्वयं अपने अपराध को स्वीकार नहीं कर लेता है, तब तक उसे प्रायश्चित्त नहीं दिया जा सकता।

जैन परंपरा में प्रायश्चित्त को अत्यंत महत्त्व दिया गया है। वहां प्रायश्चित्त के अनेक भेदों का उल्लेख है। प्रायश्चित्त देने से पूर्व प्रायश्चित्त स्वीकर्ता की शक्ति की, धैर्य की परीक्षा की जाती है, उसने अपराध किन परिस्थितियों में किया है—यह भी देखा जाता है। जो आचार्य प्रायश्चित्त देता है, वह स्वयं प्रायश्चित्त देकर उसकी अनुपालना में सहयोग करते हैं। उसके मनोबल को बढ़ाते हैं।

जैन परंपरा में प्रायश्चित्त के अनेक प्रकारों का उल्लेख है। उनमें एक प्रकार है—'परिहार तप'।

किसी मुनि से यदि ऐसा कोई अपराध हो गया है जिसकी शुद्धि के लिए एक मास से छः मास के प्रायश्चित्त का प्रावधान है, तो उस मुनि को उसकी क्षमता के अनुरूप शुद्ध-तप या परिहार-तप का प्रायश्चित्त दिया जाता है। जैन परंपरा में प्रायश्चित्त देने से पूर्व प्रायश्चित्त वहन करने वाले की शक्ति और सामर्थ्य का सूक्ष्मता से परीक्षण किया जाता है। यहीं नहीं, जिसे प्रायश्चित्त दिया जाता है, उसी से उसकी सहमति भी ली जाती है। इसके अभाव में प्रायश्चित्त दिया ही नहीं जा सकता।

इसी प्रसंग में शिष्य ने जिज्ञासा करते हुए गुरु से पूछा—गुरुदेव! समान अपराध होने पर भी किसी को 'परिहार तप' और किसी को 'शुद्ध तप' का प्रायश्चित्त—यह अंतर क्यों?

गुरु ने समाधान देते हुए कहा—एक पाषाण का मंडप है और एक एरंड का मंडप है। पाषाण के मंडप में जितना समा सके उसमें उतना ही प्रक्षेप करने पर वह उसे झेल लेता है, उसके टूटने का भय नहीं रहता। इसी तरह एरंड के मंडप में उसकी क्षमता के अनुरूप ही प्रक्षेप किया जाता है, जिससे उसके भी टूटने का भय नहीं रहता। इसलिए धृति और संहनन से बलवान को ही परिहार-तप दिया जाता है, अन्य को नहीं। इस कसौटी को आधार बनाकर साध्वी, अगीतार्थ, धृति से दुर्बल तथा प्रथम तीन संहननों से रहित को परिहार तप नहीं दिया जाता।

किंतु धृति और संहनन संपन्न गीतार्थ को अवश्य ही परिहार तप दिया जाता है।

परिहार तप के लिए श्रुत आदि की अर्हता

परिहार तप स्वीकार करने वाले का जघन्य जन्म-पर्याय उनतीस वर्ष तथा श्रमण-पर्याय बीस वर्ष का होना अनिवार्य है।

सूत्रार्थ की अपेक्षा जघन्यतः नौवें पूर्व की तृतीय आचार वस्तु, उत्कृष्टतः कुछ कम दश पूर्व।

उसका चित्त कनकावलि, रत्नावलि, आदि तप कर्म से भावित होना चाहिए।

वह द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुरूप अभिग्रह करने वाला हो।

परिहार तपवहन का समय

ग्रीष्म या शीतकाल में यदि मुनि को परिहार तप प्राप्त होता है, तब आचार्य उसका व्रत-वहन वर्षाकाल के चार

मासों में करवाते हैं, क्योंकि यह काल तपस्या आदि के लिए उपयुक्त है। साथ ही, एक स्थान पर लंबा प्रवास होने के कारण तप का वहन सुखपूर्वक किया जा सकता है।

परिहार तप की ग्रहण विधि

परिहार-तप का ग्रहण शुभ तिथि, शुभ करण, शुभ ताराबल और शुभ चंद्रबल आदि शुभ मुहूर्त में स्वीकार कराया जाता है। परिहार तप ग्रहण कराने से पहले गुरु पूर्व या उत्तर दिशा अथवा चरंती दिशा में सम्मुख होते हैं। तप स्वीकर्ता गुरु के वाम पार्श्व में कुछ पीछे की ओर स्थित होता है। गुरु सबसे पहले कायोत्सर्ग करवाते हैं। उसके बाद निर्देश देते हैं—

परिहार तप परिसंपन्नता तक मैं तुम्हारे लिए कल्पस्थित हूं। तुम मुझे वंदना कर सकते हो। मैं तुम्हें वाचना दे सकता हूं। यह गीतार्थ साधु तुम्हारा अनुपरिहारी है। अर्थात् भिक्षा आदि के समय तुम्हारे पीछे-पीछे अनुगमन करेगा।

संघ को आमंत्रित

परिहार तप स्वीकार कराने के बाद आचार्य सबाल-वृद्ध गच्छ को आमंत्रित करते हैं। उनके सामने दस वर्जनीय पदों को व्याख्यायित करते हैं—

- यह साधु परिहार तप स्वीकार कर चुका है। यह किसी से बातचीत नहीं करेगा। तुम लोग भी इसके साथ आलाप-संलाप मत करना।
- यह सूत्र-अर्थ से संबंधित कोई भी प्रश्न तुमसे नहीं पूछेगा और न ही तुम इसे कुछ पूछ सकोगे।
- यह तुम्हारे साथ सूत्रार्थ परिवर्तना नहीं करेगा, तुम भी इसके साथ परिवर्तना नहीं करोगे।
- काल वेला में न यह तुम्हें उठाएगा और न तुम इसे उठाओगे।
- न यह तुम्हें वंदना करेगा, न तुम इसकी वंदना करोगे।
- न यह तुम्हें मात्रक लाकर देगा, न तुम इसको दोगे।
- यह तुम्हारे किसी भी उपकरण का प्रतिलेखन नहीं करेगा। तुम भी इसकी नहीं करोगे।
- इससे तुम्हारा और तुम्हारे से इसका संघाटक नहीं होगा।
- न यह तुम्हें भक्त-पान लाकर देगा, न तुम इसको दोगे।
- न यह तुम्हारे साथ खाएगा, न तुम इसके साथ खाओगे।

कल्पस्थित और अनुपारिहारिक के साथ समाचारी :

कल्पस्थित पारिहारिक की वंदना स्वीकार करता है। आलोचना सुनता है। प्रत्याख्यान करवाता है। सूत्रार्थ संबंधी प्रश्न पूछने पर उत्तर देता है।

पारिहारिक भी जब गुरु बाहर से आते हैं, तो उनका अभ्युत्थान करता है। सुख-पृच्छा करता है। अपनी शारीरिक स्थिति निवेदित करता है।

यदि पारिहारिक उठने-बैठने में असमर्थ हो जाता है, तब अनुपारिहारिक उसके उठने-बैठने में सहयोग करता है। भिक्षा लाने में असमर्थ हो जाए, तो वह उसे भिक्षा लाकर देता है। भंडोपकरण की प्रतिलेखना में सहयोग करता है।

परिहार तप वहन करने वाला मुनि कदाचित् भयभीत हो जाए, उसका मनोबल कमजोर हो जाए—तब गुरु उसे आश्वस्त करते हैं, उसके मनोबल को बढ़ाते हैं। जैसे कोई व्यक्ति कूप में गिर जाता है, तब किनारे पर खड़े व्यक्ति उसे आश्वस्त करते हैं—'तुम डरो मत, अभी हम रज्जु लाकर तुम्हें निकाल देंगे।' घबराने की अपेक्षा, इस आश्वासन से वह निर्भय हो जाता है। गुरु का आश्वासन उसकी दुर्बलता को दूर कर देता है।

पारिहारिक की क्षमताएं और तप-स्थगन

परिहार तप वहन करने वाला मुनि सूत्रार्थ विशारद भी हो सकता है। अनेक लब्धियों से संपन्न हो सकता है। जब वह परिहार तप वहन कर रहा है, उस समय संघ के सम्मुख अनेक समस्याएं आ सकती हैं। जैसे—

- कोई नास्तिकवादी राजा के समक्ष वाद करने की याचना करे।
- साधु जीवन में द्वेष-भाव रखने वाले राजा आदि के द्वारा किसी साधु के मारण, पिट्टन, बंधन, उत्प्राव्रजन आदि की समस्या।
- दुर्भिक्ष आदि के कारण आहार आदि की समस्या।
- राजा आदि ने किसी मुनि को संयम से उत्प्रव्रजित कर पकड़ लिया।
- आचार्य आदि ग्लान हो गए हों।
- महामारी आदि के कारण सारा गच्छ बीमारी की चपेट में आ गया हो।
- अन्य मतावलंबी शास्त्रार्थ करना चाहता हो।

इनमें से किसी भी कारण के उत्पन्न होने पर गच्छवासी अपने संघाटक को भेजकर गुरु से अपनी समस्या निवेदित कराते हैं। तब आचार्य यह देखते हैं कि अभी हमारे संघ में पारिहारिक के अतिरिक्त कोई दूसरा मुनि इतना

समर्थ नहीं है, जो इस प्रयोजन को सिद्ध कर सके, तो ऐसी परिस्थिति में स्वयं आचार्य उसे कहते हैं अथवा वह स्वयं आचार्य से निवेदन करता है—'गुरुदेव आप मुझे आज्ञा दें। मैं यह कार्य कर सकता हूं।'

यह परिहार तप वहन कर रहा है, इस बात का स्मरण कर गुरुदेव कहते हैं—आर्य! वहां से प्रत्यागमन न हो तब तक के लिए तुम अपनी परिहार तपोभूमि को छोड़ दो। यदि वह मुनि कहे—गुरुदेव! मैं प्रायश्चित्त को वहन करता हुआ भी इस प्रयोजन को सिद्ध कर सकता हूं। तब गुरु कहते हैं—तुम जहां जा रहे हो, वहां जो आचार्य हैं—वे जैसा कहें, वैसा करना।

गमन-प्रयोजन उपस्थित होने पर गुरु के कहने पर असमर्थ पारिहारिक उसे छोड़ देता है अथवा गुरु उसे मुक्त भी कर देते हैं। गुरु उसके कार्य से प्रसन्न होकर उसे देश या सर्व-तप से मुक्त भी कर सकते हैं। अन्यथा प्रयोजन पूर्ण होने पर अपने क्षेत्र में आकर वह पुनः उसे वहन करता है।

इस प्रकार प्रायश्चित्त के द्वारा वह अपने-आपको हल्का महसूस करता है। प्रायश्चित्तकर्ता सदा महसूस करता है—

प्रायश्चित है—लक्ष्य के निकट ले जाने वाली पगडंडी,

प्रायश्चित्त है—मलिनता को धोने वाली गंगा,

प्रायश्चित्त है—जागरूकता की दिशा में प्रस्थान।

यही प्रायश्चित्त का अभीष्ट है। ❖

रचनाकारों से

जैन भारती में नैतिक-आध्यात्मिक स्तर के विचार-प्रधान व विश्लेषणात्मक लेखों और मौलिक कहानियों-कविताओं का स्वागत है, प्रकाशित-प्रसारित रचनाओं का उपयोग करना संभव नहीं होगा

अपनी रचनाएं कागज के एक तरफ साफ-साफ टाइप की हुई भेजें
हाथ से लिखी हुई रचनाएं भी कागज के एक ओर ही लिखी हों

लिखावट साफ-सुथरी, बिना काट-छांट के होनी चाहिए
कागज के एक ओर पर्याप्त हाशिया अवश्य छोड़ें

जीवन परिचय, व्यक्तित्व व कृतित्व पर लिखे गए लेख सीधे नहीं भेजें
ऐसे लेख हमारे मांगने पर ही लिखें व भेजें तो बेहतर होगा

सम-सामयिक विषयों पर विचारात्मक टिप्पणियों का भी हम स्वागत करेंगे
ऐसे लेख भी नैतिक-आध्यात्मिक स्तर के हों और विश्लेषणात्मक हों तो बेहतर होगा

महिलाओं, किशोरों और बाल-मन पर
आधारित रचनाओं का हम स्वागत करेंगे

आप चाहें तो कहानी-
कविता भी भेज सकते हैं

अप्रकाशित रचनाएं लौटाना अथवा इस बारे में
पत्र-व्यवहार करना संभव नहीं होगा

बेहतर हो, भेजी गई रचना की एक प्रति
रचनाकार पहले से ही अपने पास रखें

हम जानते हैं कि मानवमात्र में क्रोध के स्फुलिंग विद्यमान हैं। इस वजह से क्रोध आना भी स्वाभाविक ही है, पर क्षमाशूर एवं क्षमाशील व्यक्ति क्रोध आने पर उसको विफल करने का ही प्रयास करते हैं और यही श्रेयस्कर है। आमतौर पर देखने को मिलता है कि जिनका क्रोध उपशांत रहता है, उसको दोहरा लाभ सहज ही उपलब्ध हो जाता है। प्रथम तो निकाचित कर्मों का बंधन नहीं होता और द्वितीय—संबंधों का पारावार उसके साथ जुड़ जाता है। स्नेहिल एवं मधुर व्यवहार की सुरभि यत्र-तत्र-सर्वत्र सुरभित होने लगती है और इसी से व्यक्ति की सर्वथा अलग और अनूठी पहचान बन जाती है।

कषायमुक्ति किल मुक्तिरेव

❑ साध्वी कान्तयशा ❑

निश्चय-नय के सिद्धांत को मानने वाले व्यवहार-नय के धरातल पर अपनी जीवन गाड़ी का संचालन-परिचालन करते हैं। काल्पनिक जगत में ही कोई केवल विहरण नहीं कर सकता, वरन् व्यावहारिक जगत में भी अपनी प्रकृति का सर्वेक्षण करते रहना जरूरी है। व्यवहार ही सामूहिक जीवन जीने की कसौटी है। अतः यह जरूरी है कि व्यवहार समरस बने, मधुर बने। इसके लिए अपेक्षित है—उपशम-कषाय।

प्रश्न है कि कषाय है क्या? गणाधिपति गुरुदेव तुलसी स्पष्ट करते हैं—'राग-द्वेषात्मकोत्तापः कषायः—अर्थात—रागद्वेषात्मक उत्ताप को कषाय कहते हैं।' कषाय चार प्रकार के होते हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। **क्रोध**—उत्तेजना से बंधने वाला पाप कर्म। **मान**—अभिमान से बंधने वाला पाप कर्म। **माया**—धोखाधड़ी से बंधने वाला पाप कर्म। **लोभ**—लालसा से बंधने वाला पाप कर्म।

इनके भी चार-चार प्रकार हैं—**अनंतानुबंधि क्रोध**—पत्थर की रेखा के समान। **अप्रत्याख्यान क्रोध**—भूमि की रेखा के समान। **प्रत्याख्यान क्रोध**—बालू की रेखा के समान। **संज्वल क्रोध**—जल की रेखा के समान।

एक साधक साधना करता है, पर साधना करते-करते चाहे-अनचाहे ही उसके कषाय चतुष्क उदित हो जाते हैं। तब साधना के मार्ग से वह स्खलित हो जाता है। वह बेभान हो जाता है, अपनत्व को भूल जाता है, समरसता का उसका स्रोत सूख जाता है, अपने हिताहित का ज्ञान भी उसे नहीं रहता। क्रोध-रूपी चंडाल के उदित होने से वह व्यक्ति सोचता है—'मैं ही बड़ा हूं। जो कुछ मैं करता हूं, अच्छा ही करता हूं।' उसका 'ईगो' चरमसीमा पर पहुंच जाता है। अपने अतीत को विस्मृति के गर्त में डाल चुका होता है। अनागत के परिणामों की गणना न करता हुआ वह अपने वर्तमान को अंधकारमय बना लेता है।

क्रोध से न केवल मानवीय व्यवहार ही बिगड़ते हैं, वरन् व्यक्ति के शरीर पर भी उसके दुष्प्रभाव पड़ते हैं। क्रोध आने पर शारीरिक-इंगित, चेष्टाओं और भावों में अकल्पित अंतर आ जाता है। क्रोध का प्रादुर्भाव होने पर मुखाकृति में विशेष परिवर्तन आता है। जैसे—आंखों में लालिमा, होंठों का फड़कना, ललाट में सलवटें आना, मुख पर सूजन सा आ जाना और हाथ-पैरों में कंपन शुरू हो जाता है। श्वास की गति भी बढ़ जाती है। ऐसी स्थिति में एक मिनट में लगभग 35 श्वास आने की स्थिति बन जाती है। मस्तिष्क के बहुत से 'न्यूरोन्स' शिथिल अथवा नष्ट हो जाते हैं। एक मिनट का क्रोध केवल मानसिक शांति के क्षरण का ही कारण नहीं बनता है, बल्कि रक्त भी काफी काला पड़ जाता है। रक्त काला होने से रोगोत्पत्ति एवं आयु क्षय का कारण भी बन जाता है। देखने में आता ही है कि क्रोध के समय व्यक्ति के भाव नकारात्मक हो जाते हैं।

निषेधात्मक चिंतन से शरीर व्याधिग्रस्त बनता है, जो संयम साधना में बाधक है। कहा भी है—'शरीर माध्यमं खलु धर्म साधनम्' शरीर स्वस्थ होता है तो साधना भी सम्यक्तया की जा सकती है, अन्यथा साधना में रमण करने वाले साधक के लिए अपेक्षित है कि कषाय से उत्पन्न होने वाले दोषों को जानकर उन्हें छोड़ने का अभ्यास करें। इसके लिए दसवैकालिक सूत्र के निम्नलिखित सूक्त को हृदयंगम करने का निरंतर अभ्यास किया जाना चाहिए—

कोहं माणं च मायं च लोभं च पाववड्ढणं।
वमे चत्तारि दोसे उ, इच्छंतो हियमप्पणो।।

क्रोध, मान, माया और लोभ—ये पाप को बढ़ाने वाले हैं। अतः आत्मा का हित चाहने वाले इन चारों दोषों को छोड़ें। ये चारों दोष न केवल इहलौकिक हानि ही करते हैं, बल्कि पारलौकिक नुकसान भी पहुंचाते हैं। अतएव व्यक्ति को 'कषाय उपशमन' की ओर सलक्ष्य ध्यान देना चाहिए। गणाधिपति गुरुदेव तुलसी अपने एक गीत में ऐसी ही बोध देते हुए कहते हैं—

'छोड़ो क्यूं कोनी क्रोध रो नशो?
थांरी आंख्यां में लोही रो ऊफाण
थांरी अक-बक बकणै री पड़गी बाण।
दूजां नै कालै नाग ज्यूं डसो।।

इसी तरह एक और गीत में वे कहते हैं—

क्रोध बड़ो दुर्गुण दुनिया में घर-घर में बसनारो
जिण घर में नहीं क्रोध निवासी,
बो नर-जगत सितारो।।
विफल कियो कुल-पुत्र रोष ज्यूं झट बारह वर्षां रो।
व्यूं प्रशांत उपशांत भाव स्यूं 'तुलसी' सफल जमारो।।

जनमानस को उद्बोधित करते हुए गुरुदेव श्री तुलसी स्पष्ट शब्दों में कहते हैं—क्रोध दुर्गुण है, इसलिए क्रोध का शमन-उपशमन एवं क्षय अत्यंत आवश्यक है। हम जानते हैं कि मानवमात्र में क्रोध के स्फुलिंग विद्यमान हैं। इस वजह से क्रोध आना भी स्वाभाविक ही है, पर क्षमाशूर एवं क्षमाशील व्यक्ति क्रोध आने पर उसको विफल करने का ही प्रयास करते हैं और यही श्रेयस्कर है। आमतौर पर देखने को मिलता है कि जिनका क्रोध उपशांत रहता है, उसको दोहरा लाभ सहज ही उपलब्ध हो जाता है। प्रथम तो निकाचित कर्मों का बंधन नहीं होता और द्वितीय—संबंधों का पारावार उसके साथ जुड़ जाता है। स्नेहिल एवं मधुर व्यवहार की सुरभि यत्र-तत्र-सर्वत्र सुरभित होने लगती है और इसी से व्यक्ति की सर्वथा अलग और अनूठी पहचान बन जाती है।

मानव मात्र चाहता है कि उसका कषाय उपशांत रहे, व्यवहार मधुर बने एवं संबंधों में समरसता रहे। पर, कषाय-चतुष्क उदित होने पर उसे विफल करने का सामर्थ्य नहीं होने से निराशा और हताशा की प्रतिक्रिया व्यक्त हो ही जाती है। जिसका परिणाम भोगते समय वह पश्चात्ताप की अग्नि में झुलसता है। सोचता है—मैंने ऐसा क्यों किया? मैं नहीं बोलता तो, शायद इतना बुरा परिणाम भोगना नहीं पड़ता, पर क्या करे? निराश, हताश हो सोचने को मजबूर हो जाता है कि अब मुझे भविष्य में वैसा व्यवहार कभी नहीं करना है, जो अतीत में हो चुका है। तब वह इसके लिए न केवल कृत-संकल्प ही होता है, वरन् प्रायोगिक प्रयोग भूमि में उतरने के लिए भी तत्पर हो जाता है।

शारीरिक, मानसिक एवं भावनात्मक तनावों से मुक्त होने के लिए आचार्यश्री महाप्रज्ञजी द्वारा प्रदत्त प्रेक्षाध्यान की ओर गौर करना चाहिए। अनुप्रेक्षा का प्रयोग प्रारंभ कर आनंदानुभूति का अहसास ले सकता है।

मानसिक संतुलन की अनुप्रेक्षा

मानसिक-संतुलन के लिए निम्नोक्त बिंदुओं पर गौर करना चाहिए—

1. सहिष्णुता के विकास के लिए ज्योति-केंद्र पर सफेद रंग का ध्यान करें और निर्देश दें—'सहिष्णुता का भाव पुष्ट हो रहा है। मानसिक संतुलन बढ़ रहा है।' नौ बार इसी तरह का उच्चारण करें।
2. दर्शन-केंद्र पर हरे रंग का ध्यान केंद्रित कर अनुप्रेक्षा करें—'मेरे आवेग अनुशासित हो रहे हैं, मानसिक संतुलन बढ़ रहा है।' नौ बार इसका उच्चारण करें।
3. दीर्घश्वास-प्रेक्षा का प्रयोग भी इसके लिए बड़ा ही हितकारी है।
4. कायोत्सर्ग का निरंतर अभ्यास करने से कलह उपशांत होता है।
5. कायोत्सर्ग-मुद्रा या पद्मासन-मुद्रा भी इसमें लाभप्रद बनती है।

उत्तराध्ययन सूत्र में उल्लेख है कि भगवान महावीर से गौतम स्वामी ने पूछा—'कषायपच्चक्खाणेणं भंते! जीवे किं जणयइ?'—भंते! कषाय के प्रत्याख्यान से जीव क्या

प्राप्त करता है? भगवान ने कहा—'कषायपच्चक्खाणेणं वीयराग भावं जणयइ। वीयराग भाव पडिवन्ने वियणं जीवे समसुह दुक्खे भवइ।'

गौतम! कषाय प्रत्याख्यान से वह वीतराग भाव को प्राप्त करता है। वीतराग भाव को प्राप्त हुआ जीवन सुख-दुख में सम हो जाता है।

कहा भी है 'कषायमुक्ति किल मुक्तिरेव'—कषायमुक्ति से ही मुक्ति होती है। आत्मा से विजातीय दुर्गुणों के नष्ट हो जाने से वीतरागता की स्थिति बनती है। वीतरागता आने पर सुख-दुख, लाभ-अलाभ, जन्म-मरण सब सम बन जाते हैं। व्यक्ति रागात्मक-द्वंद्वों से ऊपर उठकर साधना के चरम शिखर को उपलब्ध कर सत्, चिद्, आनंद की अनुभूति करता है।

❖

पहले-पहल ध्यान करना मानो मन के साथ युद्ध करने के समान है। चंचल मन को धीरे-धीरे स्थिर कर इष्ट के पादपद्मों में लगाना चाहिए। इस अभ्यास से कुछ समय बाद सिर थोड़ा गरम हो जाता है। इसलिए पहले-पहल अधिक ध्यान-धारणा करके मस्तिष्क से ज्यादा परिश्रम लेना ठीक नहीं, वह सब बहुत ही धीरे-धीरे बढ़ाना चाहिए। कुछ दिन इस तरह नियमित अभ्यास करते रहने से जब ठीक-ठीक ध्यान होने लगेगा, तब दो-चार घंटे लगातार एक आसन में बैठकर ध्यान-धारणा करने से भी कोई कष्ट नहीं होगा; वरन गाढ़ी नींद के बाद शरीर और मन जैसे रिफ्रेश्ड (ताजा) हो जाते हैं, उसी प्रकार का अनुभव होगा, और हृदय में एक आनंद का प्रवाह बहता रहेगा।

साधना की प्रथम अवस्था में खाने-पीने के संबंध में विशेष ध्यान रखना आवश्यक है। शरीर के साथ मन का बहुत ही निकट का संबंध है। खान-पान के दोष के कारण स्वास्थ्य बिगड़ जाता है और फलस्वरूप ध्यान-धारणा का अभ्यास भी संभव नहीं हो पाता। तभी तो खान-पान के संबंध में इतने आचार-विचार हैं। भोजन की वस्तुएं ऐसी होनी चाहिए जो सहज ही हजम हो जाएं एवं पुष्टिकर हों, उत्तेजक न हों। ज्यादा खाना भी ठीक नहीं, उससे तमोगुण बढ़ता है। भोजन आधा पेट करना, पानी एक चतुर्थांश पीना, पेट का बाकी एक चौथाई भाग वायु के आने-जाने के लिए खाली रखना।

ध्यान करना क्या सहज बात है? किसी दिन थोड़ा अधिक खा लेने से मन एकाग्र नहीं हो पाता। काम, क्रोध, लोभ, मोह इत्यादि रिपुओं को दबाकर रखना पड़ता है, तब कहीं ध्यान करना संभव होता है। इन रिपुओं में से एक के भी सिर उठाने पर ध्यान नहीं हो पाएगा। खूब तपस्या करनी चाहिए। दो पैसे के कंडे खरीद उसे जलाकर आग के बीच बैठना बहुत सरल है पर काम, क्रोधादि रिपुओं को दमन करके रखना, उन्हें सिर ऊपर न उठाने देना ही असल तपस्या है। नपुंसक भला क्या करेगा? काम, क्रोध आदि रिपुओं का दमन करना ही श्रेष्ठ तपस्या है।

ध्यान किए बिना मन स्थिर नहीं होता और मन स्थिर न होने से ध्यान नहीं होता। मन स्थिर होने पर ध्यान करेंगे, ऐसा सोचने से ध्यान करना फिर कभी होगा ही नहीं। दोनों एक साथ करने होंगे। मन की वासनाएं असल में कुछ भी नहीं। ध्यान के समय ऐसा सोचना कि 'सभी मिथ्या है', इस तरह चिंतन करते-करते क्रमशः मन में सद्भावनाओं के इंप्रेशन (संस्कार) पड़ेंगे। असद्भावनाओं को जैसे-जैसे मन से निकालोगे, वैसे-वैसे उसमें सद्भावनाएं आती जाएंगी। ध्यान करते-करते कभी-कभी ज्योतिदर्शन होता है और कभी-कभी प्रणव-ध्वनी या घंटा-ध्वनी अथवा अन्य कोई दूर का शब्द सुनाई पड़ता है। परंतु वह सब कुछ नहीं है। और भी आगे बढ़ना होगा। फिर भी, ये सब लक्षण अच्छे हैं। ऐसा होने पर समझना, ठीक-ठीक रास्ते पर जा रहा हूं।

—स्वामी ब्रह्मानन्द

शेर को मनुष्य की बोली बोलते देख हम जैसे वहीं जड़ हो गए। शेर ने एक और ठहाका मारा। फिर बोला, 'आदमी बड़ा डरपोक होता है.... हैं...हैं...हैं'—हंसते हुए उसने यह बात इस तरह कही जैसे बच्चों की तरह हमें बहला-फुसला रहा हो। बोला—'डर-खतरे की कोई बात नहीं है। तुम्हारा बेटा सही-सलामत है। अब तुमसे क्यों छिपाऊं? मेरी कोई संतान नहीं है। मेरे मंत्री गजदत्त का कहना है कि यदि मैं आदमी का बच्चा पाल लूं तो मेरे भी औलाद हो सकती है....'

पिंजरा

❑ द्रोणवीर कोहली ❑

एक बार मैंने एक तोता पाला था। मगर एक दिन न जाने कैसे, पिंजरे का दरवाजा खुला रह गया। एक काली बिल्ली आई और तोते को मुंह में लेकर भाग गई। मैं तो बेबस-सा खड़ा देखता रह गया।

इस घटना से मैं बड़ा दुखी हुआ। अफसोस इस बात का था कि हम लोगों की चूक से ही तोते की जान गई थी। अभी कुछ ही दिन तो हुए थे, जब यह तोता हमने पाला था। देखते ही देखते वह सबसे हिल-मिल गया था। बड़ी मीठी-मीठी बातें करता था। मेरे छोटे भाई गोपी ने तो उसे कई दोहे भी याद करवा दिए थे।

तोते के चले जाने से सारा घर उदास हो गया था। सूने पिंजरे को देखकर मन रो उठता था। मुझसे यह सब सहा नहीं जा रहा था। आखिर एक दिन मैंने पिंजरे को बेरी की डाल से उतारा और एक कोने में डाल दिया। फिर वहीं खड़े-खड़े मैंने यह तय किया : तोता तो क्या, अब कभी कोई जीव-जंतु नहीं पालूंगा।

हमारे घर के आंगन के ऊपर से रोज ही तोते उड़ कर जाते थे। सांझ होते ही तोतों के झुंड आते और चहचहाते हुए निकल जाते। शाम होते ही मैं आंगन में खाट डाल कर लेट जाता और तोतों को उड़कर जाते हुए देखता। पहले दूर से उनकी धीमी, मीठी आवाज सुनाई पड़ती। फिर ढेर-सारे तोते उड़ते हुए आते और निकल जाते। इन्हें देख-देखकर मुझे तोते की याद सताती और मैं उदास हो जाता।

असल में सांझ होते-होते तोतों की वापसी शुरू होती थी। झुटपुटा होने से पहले वे अपने-अपने घोसलों में लौट जाते थे। गांव के बाहर ही एक नदी थी। उसके किनारे बड़े-बड़े बट, पीपल और सेमल के पेड़ थे। उन्हीं पर तोतों ने अपने घर बना रखे थे। वहीं पर ये रैन-बसेरा करते थे। मैंने एक खास बात देखी थी। वह यह कि अंधेरा घिरने के बाद कोई तोता आकाश में दिखाई नहीं पड़ता। यह देखकर मैं हमेशा अचरज किया करता। तोते नियम से समय पर आते और समय पर घरों को लौट जाते थे। और एक हम लोग हैं कि कोई काम समय पर नहीं करते।

एक दिन बड़ी अजीब बात हुई। सांझ की बेला थी। मैं आंगन में खाट पर लेटा सुस्ता रहा था। अंधेरे की काली चादर धीरे-धीरे फैल रही थी। थोड़ी ही देर पहले तोतों के झुंड निकल कर जा चुके थे। हवा में छोटे-छोटे चमगादड़ पंख फड़फड़ा कर उड़ते दिखाई पड़ते थे। आंगन में एक तरफ भैंस और गाय बैठी जुगाली कर रही थीं। बीच-बीच में उनकी गलघंटियों

की हलकी आवाज सुनाई पड़ जाती। या फिर कोई चील, कौवा या कबूतर काली छाया की तरह चुपचाप आकाश में तैरता हुआ निकल जाता।

मैं लेटा-लेटा यह सब देख ही रहा था कि अचानक एक तोते की आवाज सुनाई पड़ी। मैं चौंका और उठ कर बैठ गया। मुझे लगा कि आस-पास ही कहीं कोई तोता बोला है। पहले तो मैं समझा कि यह मेरा भरम है।

मैं चौकन्ना होकर देखने लगा। तभी क्या देखता हूं कि एक तोता ऊपर से निकलकर जा रहा है। मगर आगे जाकर वह जल्दी ही लौट आया। कुछ देर वह आंगन पर मंडराया और फिर बेरी पर जाकर बैठ गया। बैठते ही वह दो-तीन बार बोला। एक बार उसने पंख भी फड़फड़ाए। फिर एकदम सन्नाटा छा गया। हवा जैसे एकदम थम गई थी। पत्ता तक नहीं हिल रहा था।

मैं आंखें फाड़े बेरी की तरफ देख रहा था। अचानक मेरे मन में बात आई कि हो-न-हो, कोई तोता अपने झुंड से बिछुड़ कर भटक गया है, या थक कर बेरी पर आ बैठा है।

अंधेरा घिर आया था। तोते की भी आवाज सुनाई नहीं पड़ रही थी। मैं चुपचाप उठा और भीतर आ गया। पता नहीं क्यों, मुझे भरोसा था कि बेरी पर बैठा तोता रात यहीं बिताएगा। मैं उसके खाने के लिए थोड़ी-सी रोटी ले आया। ऊपर बेरी की तरफ देखते हुए मैंने रोटी के टुकड़े पेड़ के तने के साथ बिखेर दिए। एक कसोरा पानी का भर कर पास में रख दिया।

यह सब करके मैं भीतर गया और अपने बिस्तर पर लेट गया। लेकिन मेरी आंखों में नींद नहीं थी। रह-रह कर एक सुंदर तोते की छवि मेरी आंखों के आगे नाच उठती। इसके साथ ही मुझे अपने उस तोते की भी याद हो आती जिसे काली बिल्ली उठा कर ले गई थी। इसी सोच-विचार में पता नहीं कब मेरी आंख लग गई।

सुबह हुई, तो मैं सबसे पहले आंगन में गया। यह देखकर मैं चकित और खुश भी हुआ कि तोता बेरी के नीचे बैठा था। रात को जो रोटी वहां डाल गया था, वह उसे मजे से खा रहा था। कसोरे में से पानी भी पी लेता था। मैं मुग्ध-सा खड़ा तोते को देख रहा था। तोता कितना सुंदर है! कैसा चमकीला हरा रंग है! चोंच भी कैसी लाल-लाल है! और इसकी कंठी तो देखो—गुलाबी भी है और लाल भी! 'हाय, इतना सुंदर तोता!' एकाएक मेरे मुंह से यह बात निकली। मैं अपना प्रण भूल ललचाई आंखों से तोते को देखने लगा। मैं सोचने लगा—'क्यों न इस तोते को पाल लूं।'

बस, यह बात मन में आते ही मैंने एक कपड़ा लिया और दबे पांव तोते की तरफ बढ़ा। तोता था कि चैन से बैठा रोटी कुतर रहा था। नहीं जानता था कि उसके सिर पर कैसी बिपदा खड़ी है। ज्योंही मैं निकट गया कि वह चौंक कर मेरी तरफ देखने लगा। फिर टांय-टांय भी करने लगा। एक बार उसने उड़ने की भी कोशिश की। मगर धरती से चार-पांच हाथ ऊपर उठकर वह नीचे बैठ गया।

मैंने चील की तरह झपट्टा मारा और तोते को पकड़ लिया। इस पर वह कपड़े के भीतर टांय-टांय करके चीखने लगा। मैंने हाथ डाल कर उसे पकड़ा। वह और जोर से चीखा। उसकी आवाज ऐसी थी कि मेरा तो दिल ही दहल गया। मुझे लगा कि मेरा पहला पालतू तोता ही जैसे बिल्ली के चंगुल में छटपटा रहा हो।

थोड़ी ही देर में वह शांत हो गया। जब मैंने उसके पंखों को सहलाना चाहा, तो वह एकदम छटपटा उठा। मुझे पता चला कि उसके पंख पर चोट लगी थी। अब सारी बात मेरी समझ में आई कि रात को वह लौट कर क्यों बेरी पर आ बैठा था। हो न हो, इस पर भी किसी ने हमला किया होगा। नहीं तो इस तरह अंधेरे में यह अकेला न उड़ता फिरता!

तोता रह-रह कर मेरे हाथों में कांप उठता। मैंने तोते को पुचकारते हुए कहा, 'मियां मिट्ठू! तू डर मत। मैं तुझे बड़े प्यार से रखूंगा। मेरे पास बहुत बढ़िया पिंजरा है। तुझे हरी-हरी मिर्च रोज खिलाऊंगा। सुबह-शाम चने और रोटी खिलाऊंगा। अनार भी खिलाऊंगा। तुझे अच्छी-अच्छी बातें सिखाऊंगा। एक-एक बिल्ली को भी खदेड़ कर गांव से बाहर कर दूंगा....'

मुझे लगा कि क्या एक बार फिर मैं तोता पालना चाहता हूं—हालांकि मैंने ऐसा न करने का प्रण किया था।

मैंने वही किया जो न करने का प्रण ले रखा था, पर अब वही करने का मन हो रहा था। पिंजरे को झाड़-पोंछ कर मैंने बेरी की डाल से लटकाया और तोते को उसमें बंद कर दिया। पिंजरे में पड़ते ही तोते ने जैसे सारा घर सिर पर उठा लिया। मगर मैं खुश था।

थोड़ी देर में मेरा छोटा भाई गोपी आया। इतना सुंदर तोता देखकर वह भी खुश हो गया। पिंजरे की तरफ टकटकी लगाकर देखते हुए बोला—'भैया! इतना सुंदर तोता कहां से लाए!'

तोता अब भी शोर मचा रहा था। शायद समझ गया था कि अब इस कैद से छुटकारा नहीं। वह जितना चिल्लाता, मैं उतना ही खुश होता। पिंजरे की सलाखें पकड़ कर मैंने कहा—'मियां मिट्ठू! शोर मचाने का अब कोई फायदा नहीं। तू खुश हो कि मैंने तुझे मरने से बचा लिया। अगर रात को कोई बिल्ली इधर आ जाती, तो तुझे जीवित न छोड़ती। अब चुपचाप बैठ। तूने अच्छे काम किए थे कि तू हमारे आंगन में उतरा। नहीं तो जान से हाथ धो बैठता। अच्छा, तुम्हारे लिए हरी मिर्च लेकर आता हूं।'

मैं एक-दो हरी मिर्चें ले आया। पिंजरे में मिर्च रख कर मैंने पानी वाली कटोरी में पानी भी भर दिया। मगर तोते ने आंख उठा कर भी इन चीजों की तरफ नहीं देखा। जैसे यह जतलाना चाहता हो कि कैद में सोने की चीजें भी मिलें तो भी मैं उन्हें हाथ नहीं लगाऊंगा।

मैंने कहा, 'मियां मिट्ठू, खाएगा नहीं तो जिएगा कैसे? मिर्च खा और बोल—राम-राम!' लेकिन तोता जैसे बुत बना बैठा था। मैंने उसे बहुतेरा पुचकारा। दिलासा दिया। मगर तोते ने आंख उठाकर न तो मेरी तरफ देखा, न मिर्चों और पानी की तरफ। हां, बीच-बीच में वह आकाश की तरफ मुंह उठाकर बोलने जरूर लगता। जैसे किसी की राह देख रहा हो। मानो कोई आएगा और उसे ले जाएगा।

उसकी यह हालत देखकर मैं थोड़ा उदास हो गया। मगर सोचा—अभी नया-नया ही तो है! जल्दी ही हिल-मिल जाएगा।

मगर दिन ढलने के साथ ही तोते की बेचैनी बढ़ने लगी। पिंजरे की सलाखों को चोंच में भर-भर कर दिन भर उलझता रहा। कभी ऊपर देखकर बोलने लगता। कभी सलाखें पकड़ पंख फड़फड़ाता। यह सब देख मुझे तोते पर दया आती।

देखते ही देखते सांझ घिर आई। यह समय था तोतों के लौटने का। मैं डेवढ़ी में खड़ा देख रहा था। तभी तोतों का एक झुंड शोर मचाता हुआ आया और आंगन की बेरी पर उतर पड़ा। सारे आंगन में चिल्ल-पों मच गई। उन तोतों के साथ पिंजरे में कैद तोता भी बोलने लगा। फिर वह सलाखों को चोंच में पकड़ कर जैसे जूझने लगा।

यह देख कर मैंने कहा, 'सुग्गे राजा! ऐसा मत कर। इतना जोर मत लगा। कहीं ऐसा न हो कि तेरी चोंचें ही चटक जाए।' फिर न जाने मुझे क्या सूझी कि मैं हंसता-खिलखिलाता हुआ गया और पिंजरा उतार कर डेवढ़ी की तरफ बढ़ा। यह देखते ही सारे तोते मेरे सिर पर मंडराने और शोर मचाने लगे। मुझे लगा कि मैंने पिंजरा नीचे रखा तो ये तोते मुझे नोंच डालेंगे, कहीं आंख ही न फोड़ दें। कान ही न कुतर खाएं। मैं इतना डरा कि पिंजरा वहीं छोड़ा और दौड़कर डेवढ़ी में घुस गया। मैं हांफते हुए बाहर देख रहा था। ढेर-सारे तोते पिंजरे पर बैठे सलाखों से जूझ रहे थे। लगता था कि जैसे पिंजरा तोड़कर अपने तोते को छुड़ा कर ही वे दम लेंगे।

अंधेरा घना घिर आया था। तोते भी थक-हार टांय-टांय करते हुए उड़े और देखते ही देखते आंखों से ओझल हो गए। कुछ देर तक दूर कहीं उनकी आवाज सुनाई पड़ती रही। फिर वह भी गायब हो गई। पिंजरे वाला तोता भी जैसे निराश होकर बैठ गया था। मैंने भी चैन की सांस ली।

देर हो चुकी थी। आंगन में से पिंजरा उठाकर मैंने डेवढ़ी की छत की कड़ी से लटकती रस्सी पर टांग दिया। सावधानी से किवाड़ बंद कर मैं भीतर चला

आया। जब मैं अपने बिस्तर पर लेटा, तो मुझे लगा कि दुनिया में मुझसे खुश इंसान कोई नहीं। जाने कब मेरी आंख लग गई।

लेकिन रात को मैंने एक अद्‌भुत सपना देखा। मैं देखता हूं कि....हमारा सारा गांव बैलगाड़ियों पर सवार होकर किसी घने जंगल में से गुजर रहा है। घनघोर अंधेरी रात है। सरदी का मौसम है। दांत से दांत बज रहे हैं।

अब, एकाएक न जाने क्या हुआ कि गाड़ियों में जुते बैल घुटने टेक कर वहीं बैठ गए। यह देखकर हम सब इतने डरे कि झट बैलगाड़ियों से उतर पड़े। उतरने की देर थी कि सारे बैल मुस्तैदी से उठकर खड़े हो गए। एकाएक बैलगाड़ियां जमीन से दो-तीन हाथ ऊपर उठकर अधर में लटक गईं। देखते ही देखते एकदम फिसलती हुई दू...र आकाश में ओझल हो गईं। ऐसा लगता था जैसे बैलगाड़ियां नावें हों और बैल टांगों से चप्पू चलाते हुए जा रहे हों।

यह देखकर हमारे अचरज की सीमा नहीं रही। मुंह से बोल नहीं निकल रहे थे। जब थोड़ा संभले तो सब बातें करने लगे। कोई कहता, कोई भूत-प्रेत सब गाड़ियों को उड़ाकर प्रेतलोक में ले गया है! कोई कुछ कहता; कोई कुछ।

सबके चेहरों पर हवाइयां उड़ रही थीं। चारों तरफ घुप्प अंधेरा और घनघोर सन्नाटा था। कड़ाके की सरदी थी और बचने का उपाय न था। किसी के पास दियासलाई तक नहीं थी कि रोशनी करके देखें कि हम कहां खड़े हैं। रास्ते के दोनों तरफ घना जंगल था। ऊंचे छतनार पेड़ सिर उठाए खड़े थे। कलेजा मुंह को आता था।

फिर किसी ने कहा, 'यहां खड़े क्या देख रहे हो? आगे बढ़ो।' इस पर सब लोग चल पड़े, हालांकि कोई नहीं जानता था कि जा कहां रहे हैं? ज्यों-ज्यों आगे बढ़ते जा रहे थे, रास्ता और तंग होता जा रहा था। लगता था जैसे संकरी घाटी में मनुष्यों का रेला बह रहा हो।

मेरे छोटे भाई गोपी ने मां की उंगली पकड़ रखी थी। रह-रह कर वह रोने लगता था। तभी जैसे पीछे से लोगों का एक रेला आया और शोर मचाते हुए आगे निकल गया। हमारे तो हाथों के तोते ही उड़ गए, जब हमने देखा कि गोपी गायब है! मां बावरी-सी सन्न हो गई थी। कह रही थी—'अरे, अभी-अभी तो मेरी उंगली पकड़े साथ चल रहा था। कहां गया?' और फिर मां ने जो रोना-धोना शुरू किया कि चुप ही न हुई। सबने समझाया कि बालक मिल जाएगा, तसल्ली रखें। मगर मां के आंसू थे कि थमते ही नहीं थे।

सारे काफिले में खलबली मच गई। सब लोग गोपी का नाम ले-लेकर पुकारने लगे। मगर गोपी कहीं नजर नहीं आ रहा था।

एकाएक गोपी के रोने की आवाज कानों में पड़ी। संब एकदम ठिठक कर इधर-उधर देखने लगे। आवाज कहां से आई? अंधेरा इतना था कि हाथ को हाथ सुझाई नहीं देता था। गोपी के रोने और बिलखने की आवाज तेज होती जा रही थी। सब लोग उसी दिशा में भागे जिस दिशा से आवाज आ रही थी। अंधेरा पहले ही था और जब लोगों के पैरों से धूल उड़ी तो और गहरा हो गया।

इसके साथ बिजली कौंधी। उसकी रोशनी में देखा कि रास्ता ऊंचे-ऊंचे पहाड़ों में खो गया है। यह देखकर सबका बुरा हाल था। तभी किसी शेर की दहाड़ और हाथी की चिंघाड़ सुनाई पड़ी। सबकी घिग्घी बंध गई। इसके साथ ही एक बार फिर बिजली कौंधी। हम क्या देखते हैं कि रास्ते के बीचो-बीच एक शेर बैठा है। शेर को देखते ही, प्राण गले तक आ गए।

तभी शेर का ठहाका गूंजा। ठहाका इतना डरावना था कि सबके रोंगटे खड़े हो गए। इसके साथ ही पीछे कहीं से गोपी के रोने-बिलखने की आवाज भी आ रही थी। मां ने बेटे की आवाज सुनी, तो वह दौड़ी। न तो वह शेर से डरी और न अंधेरे से। मां जो थी! एकदम उधर भागी जा रही थी जिधर से गोपी की आवाज सुनाई पड़ रही थी।

'मां, रुक जा!' उसके पीछे-पीछे भागते हुए मैंने उसे रोका। बाकी लोग भी आगे आए।

इस पर शेर जैसे मां की खिल्ली उड़ाते हुए बोला, 'क्यों, अपने बेटे को देखने जा रही हो!'

शेर को मनुष्य की बोली बोलते देख हम जैसे वहीं जड़ हो गए! शेर ने एक और ठहाका मारा। फिर बोला, 'आदमी बड़ा डरपोक होता है.... हैं...हैं...हैं'—हंसते हुए उसने यह बात इस तरह कही जैसे बच्चों की तरह हमें बहला-फुसला रहा हो। बोला—'डर-खतरे की कोई बात नहीं है। तुम्हारा बेटा सही-सलामत है! अब तुमसे क्यों छिपाऊं? मेरी कोई संतान नहीं है। मेरे मंत्री गजदत्त का कहना है कि यदि मैं आदमी का बच्चा पाल लूं तो मेरे भी औलाद हो सकती है....'

मां ठगी-सी खड़ी थी। आंखों में आंसू भर कर शेर की तरफ देख रही थी। फिर जैसे आंचल पसार कर, दया की भीख मांगते हुए बोली—'मेरे बेटे को मुझे दे दे।' गांव के बाकी लोग भी हाथ जोड़ कर शेर से विनती करने लगे—'महाराज, इस बुढ़िया के बेटे को छोड़ दो। तुम्हारी बड़ी दया होगी। बुढ़िया असीसें देगी। तुम्हारा नाम ले-लेकर जिएगी!'

शेर ऐसे बैठा था जैसे इस बात को मन ही मन गुन रहा हो। फिर धीमे-धीमे मुस्काते हुए बोला—'ठीक है, जाओ, आगे पिंजरे में तुम्हारा बेटा बंद है। निकाल कर साथ ले जाओ।'

इसके साथ ही एक बार फिर बिजली कौंधी। हमने जो-कुछ देखा, हमारा रोआं-रोआं ही कांप गया। एक खुला मैदान था और उस मैदान के बीचो-बीच एक बहुत बड़ा पिंजरा रखा था। उसके भीतर गोपी खड़ा सुबक रहा था।

सबसे पहले मां भागी। उसके पीछे मैं भागा। और फिर सारा गांव भागा आया। हमें देखते ही गोपी पिंजरे की सलाखों को पकड़ कर जोर-जोर से रोने लगा—'मुझे बचा लो। नहीं तो शेर मुझे खा जाएगा।' मां ने दौड़ कर पिंजरे को जा पकड़ा था। वह 'बेटा-बेटा' कह कर पुकार लगा रही थी।

इतनी देर में सारा गांव पिंजरे के चारों तरफ इकट्ठा हो गया था। सब लोग दौड़-दौड़ कर देख रहे थे कि पिंजरे का दरवाजा कहां है। दरवाजा किसी को दिखाई नहीं देता था। गोपी रो-रोकर गुहार कर रहा था—'मां, मुझे बचा लो। यहां से छुड़ाओ। ये जानवर मुझे खा जाएंगे।'

और मां थी कि पिंजरे की सलाखों के साथ जैसे माथा फोड़ने पर उतारू हो गई थी।

शेर यह सब देख-देख कर खुश हो रहा था। एक बार फिर ठहाका मार कर हंसा और बोला—'डरपोक लोग! जाओ, अपने घर लौट जाओ। पिंजरे की सलाखों से माथा मत फोड़ो। इसकी जड़ें तो पाताल में हैं।'

शेर की यह बात सुनकर तो जैसे मां एकदम चीखीं और वहीं गश खाकर गिर पड़ीं....

....और इसके साथ ही मेरी नींद भी खुल गई। मैं हड़बड़ा कर उठ बैठा। मैंने देखा कि मैं जंगल में नहीं, बल्कि अपने बिस्तर पर बैठा हूं। मगर शेर की दहाड़ अब भी मेरे कानों में गूंज रही थी। पता नहीं मुझे क्या सूझी कि रजाई परे फेंक कर मैं उठा और बाहर भागा।

आंगन में सुबह का उजाला फैल चुका था। मैं उनींदी आंखों को मलते हुए देख ही रहा था कि डेवढ़ी में से तोते के चिल्लाने की आवाज मेरे कानों में पड़ी। मैं नंगे पैरों दौड़ गया। यह देखकर मेरे तो प्राण ही सूख गए कि डेवढ़ी के किवाड़ खुले थे। ज्योंही मैं भीतर गया, पिंजरे के ऊपर चढ़ी एक बिल्ली एकदम कूदी और दरवाजे से निकल कर भाग गई।

मेरा तो कलेजा ही दहल गया और तोता भी डर के मारे चिल्लाए जा रहा था। खैरियत थी कि वह बाल-बाल बच गया था।

यह देखकर मेरी जान में जान आई। मैं यह सोचकर कांप उठा कि थोड़ी-सी भी देर हो जाती, तो बिल्ली तोते को मार ही डालती।

मुझे देखते ही तोते ने धीरे से टांय-सी आवाज निकाली। जैसे, मेरा धन्यवाद कर रहा हो कि मैं वक्त पर आ गया। फिर चुपचाप आंखें बंद करके बैठ गया।

मैं कुछ देर खड़ा उसे निहारता रहा। मेरे मन में न जाने क्या समाई कि वहीं खड़े-खड़े ही एक बार फिर

प्रण किया—'मैं तोते को कैद नहीं रखूंगा। अभी, इसी वक्त, इसे आजाद करता हूं।'

मैंने पिंजरा उतारा। उसे हाथ में लिए बाहर आंगन में आया और पिंजरे का दरवाजा खोल दिया।

तोते ने अचानक आंखें खोल कर देखा। धीरे-धीरे दाएं-बाएं सिर घुमाया। जैसे कि वह अचरज कर रहा हो कि कहीं वह भी सपना तो नहीं देख रहा!

फिर दो कदम चल कर वह पिंजरे के दरवाजे तक आया और फुर्र से उड़ गया।

मैं चकित आंखों से खाली पिंजरा देख रहा था। सोचा, यह तोता रात को आया था, तो पंख घायल थे। यकायक यह उड़ कैसे गया? क्या आजादी पाकर तोते में इतनी हिम्मत आ गई कि पंख मारता हुआ वह उड़ गया? ❖

आप इस आत्मबल को कैसे जान सकते हैं? इस प्रश्न की जिज्ञासा करना तथा उसका उत्तर प्राप्त करना ही आज की मानवजाति का मुख्य विषय होना चाहिए। अब तक का सारा ज्ञान ठीक ही था। भौतिक और ऐंद्रिक स्तर के परे, हम कुछ भी नहीं जानते। आज, विज्ञान को भी उक्त विषय में कुछ कहना नहीं है। परंतु, जिस सबसे महत्त्वपूर्ण प्रतीक्षारत शक्ति को हमें अर्जित करना है—वह है आत्मबल। प्रतिदिन न जाने कितने प्रलोभन लोगों को लुभा रहे हैं और मनुष्य के पास उनसे जूझने की शक्ति नहीं है। बुद्धिबल के पास वह शक्ति नहीं है। परंतु आत्मबल उसका सामना कर सकता है। अल्प-सा आत्मबल ही सभी प्रलोभनों को नकार सकता है। क्या छोटे और क्या बड़े, आजकल हमारे समाज में सभी लोग विभिन्न प्रकार के प्रलोभनों के शिकार होते जा रहे हैं। महिलाएं और लड़के-लड़कियां सभी त्रस्त हैं। आप देखते ही होंगे कि सभी ओर असामाजिक प्रलोभनों के समक्ष नैतिक संघर्ष क्षीणप्राय हो रहा है। इसकी वजह से हम अनेक सामाजिक समस्याओं का सामना कर रहे हैं। इसीलिए, यह आवश्यक है कि हम इस आत्मबल में कुछ वृद्धि करें, ताकि हम अपने मन और इंद्रियों को नियंत्रित करने में सक्षम हो सकें। यदि इन इंद्रियों को सुचारु रूप से नियंत्रित न किया जाए तो वे अत्यंत त्रासदाई होती हैं।

हमारे प्राचीन ऋषियों ने हमें बड़ा ही सुंदर विचार दिया है। उन्होंने कहा है कि हर एक मानव के छ रिपु होते हैं—षड्रिपु। षड् अर्थात् छ, रिपु अर्थात् शत्रु। वे कहीं बाहर नहीं रहते, अपितु हमारे भीतर ही विद्यमान रहते हैं। वे कौन-कौन से हैं? काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य—अनियंत्रित वासना, कोप, लालच, भ्रांति, अभिमान तथा हिंसा। ये ही प्रत्येक मनुष्य में छ शत्रु होते हैं—मानव मन का यह एक उत्कृष्ट विश्लेषण है। ये षड्रिपु ही सारी समस्याओं के निर्माता होते हैं। आज आप जगत में मानव के परस्पर संबंधों में जो वैमनस्य देख रहे हैं, वह इन्हीं शत्रुओं की उपज है—एक, दो अथवा कई बार तीनों—काम, क्रोध और लोभ को सक्रिय देखा जाता है। हमें इन पर नियंत्रण रखना होगा। इन्हें कौन नियंत्रित करेगा? मन को ही इन्हें नियंत्रित करना होगा; मन के द्वारा ही यह संभव है। परंतु यदि मन दुर्बल हुआ, तो इन रिपुओं का दमन करने की बजाए वह इनका अनुसरण करने लगेगा। तभी हम सब प्रलोभनों के सामने घुटने टेक देते हैं। अनेक लोगों के साथ यही घट रहा है, क्योंकि तंत्रिका-विज्ञान (Neurology) आज हमें यह बताता है कि उन्नत मस्तिष्कीय प्रणाली ही शरीर के समस्त संवेदी तंत्र को नियंत्रित करती है। मानवजाति को क्रम-विकास की यह एक विशेष देन है। किंतु यह उत्कृष्ट मस्तिष्क ही यदि संवेदिक प्रणाली का दास बन जाए, तो अनेक लोगों के लिए यह दुर्भाग्यपूर्ण सिद्ध होता है, तब सभी नैतिक मूल्यों का ह्रास हो जाता है। फिर होता यह है कि बजाए कुत्ते का सिर उसकी पूंछ का नियंत्रण करे, उसकी पूंछ ही सिर को संचालित करने लगती है। आधुनिक समय में अधिकांशतः लोगों के साथ ऐसा हो रहा है। इसीलिए प्रतिदिन ही सामाजिक समस्याएं और कष्ट बढ़ते ही जा रहे हैं। अतः इस मस्तिष्कीय व्यवस्था को स्वतंत्र बनाना चाहिए। तभी ये शत्रु सिर ऊपर नहीं उठाएंगे और व्यक्ति तथा समाज को कष्ट नहीं दे सकेंगे। मानव ही इन शत्रुओं को नियंत्रित कर सकता है।

—स्वामी रंगनाथानन्द

प्रभु का रूप भी अक्षय नहीं पृष्ठ 38 का शेष

उनकी कैवल्य-कृपा न प्राप्त कर सका? निश्चय ही इस भव में मुझे सिद्धि नहीं मिलेगी। तभी अचानक श्रीभगवान का स्वर सुनाई पड़ा :

'देवानुप्रिय गौतम, तीर्थंकर का वचन सत्य कि देववाणी सत्य?'

'तीर्थंकर का वचन सत्य, भगवन?'

'महावीर तुम्हारे लिए कम पड़ गया? तुम्हें उसकी सामर्थ्य पर शंका हुई? तुम देववाणी का आदेश मानकर, अष्टापद पर्वत पर गए। वहां कैवल्य मिला तुम्हें?'

गौतम ने चाहा कि धरती फट पड़े और वे उसमें समा जाएं। चाहा कि दौड़ कर प्रभु की गोद में सर डाल रो पड़ें। कि तत्काल सुनाई पड़ा :

'महावीर की गोद में सर डाल देने से कैवल्य मिल जाएगा? अपनी ही गोद में सर डालने को तुम्हारा जी नहीं चाहता न? क्योंकि तुम आप में नहीं, पर में जी रहे हो। तुम महावीर के रूप में मोहित होकर, उसी की मूर्च्छा में जी रहे हो। महावीर की आत्मा से अधिक तुम्हें उसका शरीर प्रिय है। पर्याय पर ही अटके हो, पर्यायी को नहीं देखोगे? आवरण पर ही अनुरक्त हो रहे तुम, तो आवरण कैसे हटे, आत्म का दर्शन कैसे हो?'

गौतम के उस भव्य शांत मुख-मंडल पर आंसुओं की धाराएं बंध गईं। उन्हें फिर सुनाई पड़ा :

'सुनो गौतम, शिष्य पर गुरु का स्नेह कमल के हार्द में स्वतःस्फुरित पराग की तरह होता है, जो अनायास सर्वव्यापी हो जाता है। और गुरु पर शिष्य का ममत्व, तुम्हारी तरह ऊन की गुंथी चटाई जैसा सुदृढ़ और प्रगाढ़ होता है। चिरकाल के संसर्ग से, जन्मों के ऋणानुबंध से हम पर तुम्हारा मोह बहुत दृढ़ हो गया है। इसी से तुम्हारा केवलज्ञान रुंध गया है। जब तक यह परभाव में रमण है, जब तक यह भंगुर रूप की आसक्ति है, तब तक अमर आत्म का दर्शन क्योंकर संभव है?'

'तो मैं प्रभु से दूर चला जाऊं? मैं प्रभु को भूल जाऊं?'

'हां, दूर चले जाना होगा, एक दिन। भूल जाना होगा, एक दिन। स्वयं महावीर तुम्हें ठेल देगा, एक दिन। तब जानोगे, कि तुम कौन हो, मैं कौन हूं? कल्याणमस्तु, गौतम!'

प्रभु चुप हो गए। उनकी इस वज्र वाणी से सारे चराचर पसीज उठे। जीव मात्र गौतम के प्रति सहानुभूति से करुण-कातर हो आए।

....गौतम को लगा कि प्रभु ने उन्हें लोकाग्र की सिद्धशिला पर से, लोक के पादमूल में फेंक दिया है। ....देह का पिंजर भेद कर हंस, उस क्षण जाने किन चिदाकाशों में यात्रित हो चला।

....और उस उड़ान में भी गौतम के मन में एक ही भाव उभर रहा था : 'ओह, मेरे प्रभु कितने सुंदर हैं? क्या तीर्थंकर महावीर का यह त्रिलोकमोहन रूप भी नाशवान है? नहीं, ऐसा नहीं हो सकता! मैं काल को हरा दूंगा और अर्हंत के इस सौंदर्य को एक-न-एक दिन अमर हो जाना पड़ेगा। मेरे लिए!....' ❖

आत्म-ज्ञान की अलख जगे पृष्ठ 31 का शेष

चिंतन के झरोखे खोलकर हृदय परिवर्तन के लिए अग्रसर हो। प्रेम, करुणा, सौहार्द आदि मानवोचित गुणों की खेती अहिंसा की उर्वर धरती पर सहज्ञान के बीज और सहृदयता के सिंचन से ही लहराएगी। अध्यात्म के संरक्षण में यह वसुंधरा पुनः पुनः सर-सब्ज हो जाएगी।

एक सुंदर दीप अपने प्रकाश से पथिकों का मार्ग प्रशस्त करता है और लोग मुक्त-कंठ से उसकी प्रशंसा करते हैं, लेकिन दीपक सहज निश्छलभाव से कहता है—मैं तो मात्र मिट्टी की एक आकृति हूं। मेरा प्राण तेल है और बाती है मेरी आत्मा। इन दोनों के सहयोग से निकलने वाला आलोक ही आत्मा का प्रकाश है, ज्ञान है, ज्योति है। जन-जन का अज्ञान-अंधकार दूर करना और सद्ज्ञान का उजास बिखेरना—एक-दूसरे के आत्मीय-सहयोग के बिना संभव नहीं है। सबके सहयोग से ही आत्मचेतना विकसित होती है। आत्मज्ञान की ज्योति प्रकट होने पर पुद्गल-जनित सुख अपक्व फल, नमक विहीन भोजन के समान निस्सार लगते हैं। जीवन का अक्षय, अमोल, अनुपम और सच्चा धन आत्म-ज्ञान है।

आत्म-ज्ञान की अलख सतत जलती रहे।

❖

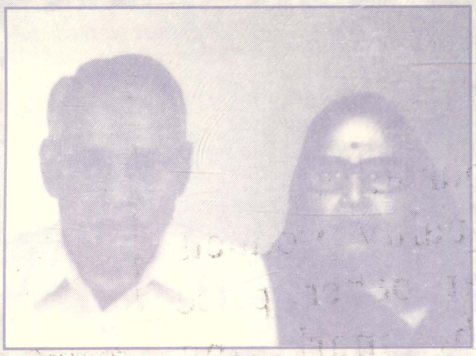

स्व. माता-पिता बच्छराजजी जीवजीदेवी खटेड़

स्व. सुपुत्र विवेक खटेड़

With Best Compliments From :

Rajendra Khater (Taranagar)
Mobile : 9845023851

Ashok Plastics

157/35, 3rd Main Road, Industrial Town
Rajajinagar, Bangalore 560044
Phone : 3350804

MAHABIR STORES

Kumbarpet, Bangalore 560002
Phone : 22239997

Residence:
7, Meghdoot Apartment, 3rd Floor
Lakshmi Road, Shantinagar, Bangalore-27
Phone : 22239413, 22273640

जैन भारती, नवंबर, 2004 ■ भारत सरकार पं. सं. : 2643/57 ■ डाक पं. सं. : आर जे/डब्ल्यू आर /11/48/03-05
'Licensed to Post without Pre-Payment' Under Licence No. RJ/WR/PP/Bikaner13/2004

INA
Authorised Distributor

It has been our endeavor to get you the quality products & services at better price level and the marketing arrangement we have with INA and FAG on All India basis gives the chance to further that, providing better value for your money.

- FAG Star Distributor
- FAG Industrial Distributor
- INA Authorised Distributor

FAG

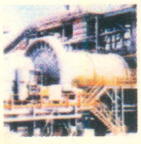

Premier (India) Bearings Ltd.
Kolkata

We congratulate you for being positioned within FAG as

Star Distributor - 2004

in view of your business contracted for year 2004.

We wish you all success in accomplishing greater strides.

FAG Kugelfisher AG

Star Distributor

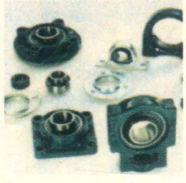

Premier (India) Bearings Ltd.

25 Strand Road, 4th Floor, Kolkata - 700 001. Phone : 22200640/22201926 Fax : 22485745 E-mail : pibl@vsnl.com

Authorisation is valid for supplies on all India basis :

Chandigarh Office :
SCO 41, 2nd Floor, Sector-20-C
Chandigarh - 160 020
Phone : 272 2287
Fax : (0172) 272 2287
E-mail : pibchd@indiatimes.com

Chennai Office :
83 (Old No. 41), Armenian Street
Chennai - 600 001
Phone : 2524 6911/6892/3727
Fax : (044) 2522 8612
E-mail : piblchennai@vsnl.com

Delhi Office :
2423/29, Surekha Building,
G. B. Road, 3rd Floor, Delhi - 6
Phone : 2321 7109,
Fax : (011) 2321 0276
E-mail : pibdel@indiatimes.com

Ludhiana Office :
BXXI 14651, Dholewal Chowk
Ludhiana - 141 003, Punjab
Phone : 2547524/525
Fax : (0161) 2547526
E-mail : rajvinder@pibldh.com

Mumbai Office :
Vashi Plaza, Ground Floor, Sector 17,
Navi Mumbai - 400 705
Phone : 2789 4595/6897
Fax : (022) 2789 6816
E-mail : pibvashi@bom8.vsnl.net.in

तरुण सेठिया, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1 के लिए जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं सांखला प्रिण्टर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।